विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूम्बर – नवम्बर – दिसम्बर

* १९७९ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म० प्र०)

दूरभाष : २४५८९

ग्राहकों को विशेष सूचना

१. 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ५) मनीऑर्डर द्वारा व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय पो०–विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ४९२–००१ (म० प्र०) के पते पर भेज दें। ग्राहकों को सुविधा के लिए साथ में मनीऑर्डर फार्म संलग्न है। आपमें से जिनका चन्दा वर्ष के सभी अंकों के लिए जमा नहीं है वे भी कृपया संलग्न मनीऑर्डर में दर्शाया बकाया चन्दा भिजवा दें, जिससे सभी अंक नियमित रूप से आपको भेजे जा सकें।

२. विशेष ज्ञातव्य है कि 'विवेक-ज्योति' अब बिना पूर्व सूचना के वी पी. द्वारा नहीं भेजी जायगी। अतए जो ग्राहक वी. पी से ही पत्रिका मँगाना चाहें, उनसे उस आशय का पत्र पाने पर ही पत्रिका वी. पी. द्वारा भेजी जा सकेगी, जो ७)९० की होगी।

३. 'विवेक-ज्योति' त्रैमासिक पत्रिका ग्राहकों को जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में निश्चित रूप से डाक द्वारा भेज दी जाती है। जिन्हें पत्रिका न मिले, वे न मिलने की शिकायत कृपया सम्बन्धित महीने के अन्त तक हमारे पास अवश्य भेज दें।

४. 'विवेक-ज्योति' के ग्राहकों के लिए रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के प्रकाशनों पर ५% की छूट दी जायगी।

५. पत्र लिखते या मनीऑर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

—: ० :—

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १७] अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर [अंक ४
★ १९७९ ★

मुक्त कौन ?

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं
श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि ।
त एव मुक्ता भवपाशबन्धै-
र्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः ।।

——जो लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियों तथा चित्त और अहंकार इन बाह्य वस्तुओं को आत्मा में लीन करके समाधि में स्थित होते हैं, वे ही संसार-बन्धन से मुक्त हैं। जो केवल परोक्ष ब्रह्मज्ञान की बातें बनाते रहते हैं, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते।

—विवेकचूड़ामणि, ३५७

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

पेरिस,
९ सितम्बर, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

संयुक्त राज्य अमेरिका का चक्कर लगाता हुआ तुम्हारा तथा जी. जी. का पत्र अभी अभी मुझे मिले।

मुझे यह आश्चर्य है कि तुम लोग मिशनरियों की मूर्खतापूर्ण व्यर्थ की बातों को इतना महत्त्व दे रहे हो। अगर भारतवासी मुझे नियमपूर्वक हिन्दू-भोजन के सेवन पर बल देते हैं, तो उनसे एक रसोइया एवं उसको रखने के लिए पर्याप्त रुपये का प्रबन्ध करने के लिए कह देना। एक पैसे की सहायता करने का तो सामर्थ्य है नहीं, किन्तु आगे बढ़कर उपदेश झाड़ते हैं! इससे मुझे तो हँसी ही आती है।

मिशनरी लोग यदि यह कहते हों कि कामिनी-कांचन-त्यागरूप संन्यासियों के दोनों ही व्रत मैंने तोड़े हैं, तो उनसे कहना कि वे झूठ बोलते हैं। मिशनरी ह्यूम को पत्र लिखकर तुम यह पूछना कि उन्होंने मेरा क्या असदाचरण देखा है—यह तुम्हें स्पष्ट लिखें; अथवा जिन व्यक्तियों से उन्होंने इस बारे में सुना है, उनके नाम लिखें। साथ ही उनसे यह भी पूछना कि

उन घटनाओं को उन्होंने स्वयं देखा है या नहीं ऐसा करने पर प्रश्न का समाधान अपने आप हो जायगा तथा उनके झूठ का भी पता लग जायगा। इसी तरीके से डा. जेन्स ने उन मिथ्यावादियों को पकड़वाया था।

मेरे बारे में सिर्फ इतना ही जान लेना कि मैं किसी के कथनानुसार नहीं चलूँगा। मेरे जीवन का क्या व्रत है, यह मैं स्वयं जानता हूँ। किसी जाति-विशेष के प्रति न मेरा तीव्र अनुराग है और न घोर विद्वेष ही है। मैं जैसे भारत का हूँ, वैसे ही समग्र जगत् का भी हूँ। इस विषय को लेकर मनमानी बातें बनाना निरर्थक है। मुझसे जहाँ तक हो सकता था, मैंने तुम लोगों की सहायता की है, अब तुम्हें स्वय अपनी सहायता करनी चाहिए। ऐसा कौन सा देश है, जो कि मुझ पर विशेष अधिकार रखता है? क्या मैं किसी जाति के द्वारा खरीदा हुआ दास हूँ? अविश्वासी नास्तिको, तुम लोग ऐसी व्यर्थ की मूर्खतापूर्ण बातें न बनाओ।

यहाँ पर मैंने कठोर परिश्रम किया है और मुझे जो कुछ धन मिला है, उसे मैं कलकत्ते तथा मद्रास भेजता रहा हूँ। यह सब कुछ करने के बाद अब मुझे उन लोगों के मूर्खतापूर्ण निर्देशानुसार चलना होगा? क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती? मैं उन लोगों का किस बात के लिए ऋणी हूँ? क्या मैं उन लोगों की प्रशंसा

की कोई परवाह करता हूँ या उनकी निन्दा से डरता हूँ ? बच्चे, मैं एक ऐसा विचित्र स्वभाव का व्यक्ति हूँ कि मुझे पहचानना तुम लोगों के लिए भी अभी सम्भव नहीं है। तुम अपने काम करते रहो। यदि नहीं कर सकते, तो चुपचाप बैठ जाओ; किन्तु अपनी मूर्खता के बल पर मुझसे अपनी इच्छानुसार कार्य कराने की चेष्टा न करो। मुझे अपने पीछे एक ऐसी शक्ति दिखायी दे रही है, जो कि मनुष्य, देवता या शैतान की शक्तियों से कहीं अधिक सामर्थ्यशाली है। मुझे किसी की सहायता नहीं चाहिए, जीवनभर में ही दूसरों की सहायता करता रहा हूँ। ऐसे व्यक्तियों का दर्शन तो अभी तक मुझे नहीं मिला है, जिनसे कि मुझे कोई सहायता प्राप्त हुई हो। अब तक देश में जितने व्यक्तियों ने जन्म लिया है, उनमें सर्वश्रेष्ठ श्रीरामकृष्ण परमहंस के कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए जहाँ के निवासियों में दो-चार रुपये भी एकत्र करने की शक्ति नहीं है, वे लोग लगातार व्यर्थ की बातें बना रहे हैं और उस व्यक्ति पर अपना हुक्म चलाना चाहते हैं, जिसके लिए उन्होंने कुछ भी नहीं किया, प्रत्युत जिसने उन लोगों के लिए जहाँ तक हो सकता था, सब कुछ किया। जगत् ऐसा ही अकृतज्ञ है !

क्या तुम यह कहना चाहते हो कि ऐसे जाति-भेद-जर्जरित, कुसंस्कारयुक्त, दयारहित, कपटी,

नास्तिक कायरों में से जो केवल शिक्षित हिन्दुओं में ही पाये जा सकते हैं, एक बनकर जीने-मरने के लिए मैं पैदा हुआ हूँ? मैं कायरता को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। कायर तथा राजनीतिक मूर्खतापूर्ण बकवासों के साथ मैं अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। किसी प्रकार की राजनीति में मुझे विश्वास नहीं है। ईश्वर तथा सत्य ही जगत् में एकमात्र राजनीति है, बाकी सब कूड़ा-करकट है।

मैं कल लन्दन जा रहा हूँ। इस समय मेरा वहाँ का पता इस प्रकार होगा——द्वारा श्री ई. टी. स्टर्डी, हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड।

सदा आशीर्वाद के साथ तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च:—इंग्लैण्ड तथा अमेरिका, दोनों ही जगहों से पत्रिका निकालने का मेरा विचार है। अतः अपने पत्र के लिए तुम लोगों को पूर्णतया मुझ पर निर्भर नहीं होना चाहिए। तुम्हारे अलावा और भी बहुत सी चीजों पर मुझे ध्यान देना है।

वि०

●

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

माँ की विशेष कृपाप्राप्त एक भक्त-सन्तान के मुख से सुना है कि वे दीक्षा के लिए आग्रहवान् तो थे ही नहीं, बल्कि इस बारे में उन्होंने कभी सोचा भी न था। पूर्वजन्म के पुण्यों के फलस्वरूप उन्होंने 'उद्बोधन' में माँ का दर्शन-लाभ किया और उस समय माँ के किसी एक भक्त ने उनको दीक्षा के लिए प्रेरणा दी और तदनुरूप सब व्यवस्था कर दी। माँ ने उन पर अहैतुकी कृपा की और इसके बाद से ही उनके जीवन में परिवर्तन आ गया। माँ की कृपा पाने के बाद से ही धीरे धीरे उन्होंने उनकी महिमा का परिचय पाया और तब समस्त कामना-वासना का परित्याग कर माँ को इहलोक और परलोक दोनों का अवलम्बन जान उनकी सेवा और चिन्तन को ही जीवन का व्रत बना लिया। उपयुक्त अधिकारी देख माँ स्वयं ही करुणापूर्वक सन्तान के भीतर ज्ञान-भक्ति का बीज बोकर उसे स्नेह और ममता द्वारा पुष्ट करतीं और इसके बदले कोई अपेक्षा न रखतीं।

एक भक्त कम उम्र में ही संसार त्यागकर एक आश्रम में साधु हो गया था। आश्रम में कठोर परिश्रम करना पड़ता। खाने-रहने का कष्ट तो था ही, ऊपर से आश्रम के अध्यक्ष भी समय समय पर कठोर शासन करते। फिर भी उसने ऐसा सोचकर कि

आश्रमाध्यक्ष मंगल ही चाहते हैं, दारुण कष्टों को सहते हुए काफी दिन आश्रम में काट दिये, पर जब आश्रम के नियम-कानून और काम-काज उसके लिए एकदम असह्य हो उठे, तब वह काशी जाने का निश्चय कर वहाँ से निकल पड़ा। छोटी उम्र से ही वह ठाकुरजी के प्रति भक्तिमान था। इसलिए काशी जाते जाते वह रास्ते में वर्धमान में उतर पड़ा और ठाकुरजी के जन्मस्थान--कामारपुकुर--के दर्शनों के लिए आया। वहाँ से श्री माँ के दर्शन के लिए वह जयरामवाटी गया। माँ को देख और उनकी अपार स्नेह-ममता पा उस दुःखी बालक का हृदय फूट पड़ा और उसने रोते रोते अपनी दुःख की कहानी सुनायी। सन्तान के दुःख से माँ के भी नेत्र झरने लगे, उसे आश्वस्त कर माँ ने अभय प्रदान किया तथा अयाचित कृपा कर दीक्षा दे उसे हमेशा के लिए अपने अटूट स्नेह-पाश में बाँध लिया। भक्त इसी अंचल में दीर्घकाल तक रहा और सदैव मातृचरणों के दर्शन और सेवा का सुयोग पा तथा स्नेह-माधुर्य-रस का पान कर उसने अपना जन्म सार्थक कर लिया।

ठाकुरजी के जन्मस्थान से थोड़ी दूर पर एक उच्च विद्यालय था। वहाँ के प्रधानाध्यापक ने तथा उनके सहायकों में से किसी किसी ने माँ से दीक्षा ग्रहण की थी। वे लोग बीच बीच में जयरामवाटी आकर माँ के दर्शन करते। उनके बहुत से छात्र यह

बात जानते थे। संस्कारवश एक बालक के अन्दर शिक्षकों के प्रति श्रद्धा-भक्ति के साथ साथ धर्म-भाव का बीज अंकुरित हुआ। उसने खोज की कि शिक्षक लोग कहाँ किसके पास जाते हैं, और सब बातें जानने पर वह ठाकुरजी के प्रति आकर्षित हुआ। धीरे धीरे उसने श्री माँ के सम्बन्ध में भी जाना। किन्तु प्रधानाध्यापक महोदय खूब कड़े थे, वे छोटे छोटे लड़कों का बिना समझे सिर्फ दूसरों की देखादेखी धर्म-कर्म करना पसन्द नहीं करते थे। इसलिए वह लड़का चोरी-छिपे ठाकुरजी से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ता और मित्रों से उसकी चर्चा करता। नवासन-स्थित आश्रम के एक ब्रह्मचारी से उसने कहा, "मेरे पास ठाकुरजी की तसवीर रखने का साहस नहीं है, इसलिए आश्रम में ठाकुरजी को देख-देखकर मैंने भीतर में ऐसा कर लिया है कि जब भी मन में इच्छा होती है, उन्हें देख पाता हूँ।" सौभाग्य से माँ के कृपाप्राप्त एक साधु के साथ उसका परिचय हो गया और वह परिचय घनिष्ठता में बदल गया। एक दिन वह बिना किसी को बतलाये साधुओं के साथ माँ के पास गया, उनके दर्शन किये और उन्हें प्रणाम किया। भक्तिमान् बालक को देख माँ ने उसका परिचय जानना चाहा। जब माँ को पता चला कि वह उन्हीं के एक दीक्षित भक्त का छात्र है, तो वे विशेष प्रसन्न हुईं और स्नेह-दुलार प्रकट करते हुए उस बालक

को खाने के लिए प्रसाद दिया। इससे लड़के का मन खुशी से भर उठा, पर साथ ही उसे एक आशंका भी सताने लगी। सोचने लगा, कहीं शिक्षक महोदय श्री माँ के पास आकर उसके आगमन की बात जान लें, तब तो वे निश्चय ही अत्यन्त रुष्ट होंगे। उसने अपनी चिन्ता अन्य साधुओं के पास व्यक्त कर दी। उन लोगों ने माँ से विनयपूर्वक निवेदन किया कि बालक के आने की बात कभी बातचीत में शिक्षक महोदय के सामने न निकले। माँ ने मृदु हास्य के साथ अभय दिया, तब कहीं उसका मन निश्चिन्त हुआ। माँ की स्नेह-ममता पाकर उसका आना-जाना बढ़ गया और शीघ्र ही उसने माँ की कृपा भी प्राप्त कर ली। उसके मधुर चरित्र, व्यवहार और कर्मतत्परता से शीघ्र ही जयरामवाटी में माँ के घर में सभी के साथ उसकी घनिष्ठता हो गयी और उसके प्रति माँ का भी विशेष स्नेह हो गया। बाद में जब शिक्षक महोदय को माँ के प्रति उसकी भक्ति का तथा उसके प्रति माँ के विशेष स्नेह का पता चला, तब वे भी बड़े आनन्दित हुए।

इसी अंचल के एक प्रौढ़ उम्र के पुराने भक्त एक दिन अपराह्न में माँ के दर्शन करने आये। वे सम्भ्रान्त सम्मानित व्यक्ति थे, फिर भी माँ के यहाँ फर्श पर एक आसन पर बैठे थे और माँ अपने बिछौने पर बैठी थीं। उन सज्जन ने ठाकुरजी के सम्बन्ध में

कुछ लिखा था, वही माँ को सुना रहे थे। माँ भी बीच बीच में बहुतसी बातें बतलातीं, समझातीं। उन सज्जन के साथ उनका एक अल्पवयस्क पुत्र था। लड़का खूब अच्छा था, भक्तिमान था और अपने पिता के पास बैठकर दोनों का वार्तालाप सुन रहा था। माँ ने उस पर प्रसन्न हो सन्तोष व्यक्त किया। तब पिता ने पुत्र के चरित्र और धर्मभाव की प्रशंसा कर उसके लिए माँ के स्नेहाशीर्वाद और कृपा की प्रार्थना की। माँ का मन लड़के के प्रति अनुकम्पा से परिपूर्ण हो उठा। उन्होंने उसी समय उसी अवस्था में उसके प्रति विशेष अनुग्रह करते हुए उसे दीक्षा दे दी। उन्होंने क्या किया, क्या कहा यह तो वे ही जानें, अन्य लोगों ने देखा कि वह बालक भक्ति से गद्‌गद् हो उनके चरणों में लोट रहा है और उसके पिता प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रों से हाथ जोड़े खड़े हैं।

और एक ऐसी घटना मैंने विश्वस्त सूत्रों से सुनी थी। जयरामवाटी में माँ की बचपन की सखी थी। दोनों में खूब लगाव था; एक दिन दोनों एक ही बिछौने पर लेटी हुई थीं। बाल्य-सखी के मन में माँ की कृपा पाने की आकांक्षा हुई और बस, उसी क्षण माँ ने उसी प्रकार लेटे लेटे उसे दीक्षा देकर धन्य कर दिया।

एक दुबला-पतला बालक दूर देश से आया था। ठाकुरजी की जन्मतिथि के दिन उपस्थित हो

उसने माँ से कृपा करने की प्रार्थना की। अन्य लोगों की आपत्ति होने पर भी माँ ने उसे दीक्षा देकर कृतार्थ किया। ठाकुरजी की जन्मतिथि के दिन साधारणतः माँ दीक्षा नहीं देती थीं; फिर उस समय उनका स्वास्थ्य भी उतना अच्छा नहीं था, इसीलिए अन्य लोग मना कर रहे थे। माँ दूसरों को समझाती हुई कहने लगीं, "कितना कष्ट उठाकर इतनी दूर से आया है--शरीर अस्वस्थ है, बाद में क्या होगा कुछ कहा नहीं जा सकता, उसे निराश नहीं कर सकी, इसलिए आज ही दीक्षा दे दी। ठाकुर की कृपा से उसकी मनोकामना पूरी हुई।"

कोयालपाड़ा में माँ ने पुलिस में नजरबन्द एक युवक को जल्दी से आसन के अभाव में पुआल पर तृण के आसन पर बैठाकर और स्वयं भी उसी प्रकार बैठकर दीक्षा दे उसकी मनोकामना पूर्ण की थी। उसका वहाँ एक समय भी प्रसाद पाने का उपाय न था। माँ की दीक्षाप्रणाली ऐसी थी, जैसे कोई जानकार व्यक्ति पथ-भटके यात्री को पास बुलाकर मधुर स्वर में आश्वस्त करते हुए गन्तव्य स्थान दिखा दे, कहे--'कोई डर नहीं, सीधे इसी रास्ते चले जाओ, ज्यादा दूर नहीं है, वो दिखायी पड़ रहा है!' ऐसा था उनका दीक्षा देना! आडम्बर की कोई आवश्यकता न थी। ठिकाना

जिसका देखा हुआ न हो, जिसे अन्दाज और अनुमान से, सुनी-सुनायी बातों से ही लक्ष्यस्थल दिखाना पड़ता हो, उसी को वाक्पटुता की आवश्यकता होती है ! बच्चों को जो कुछ बतलाना होता, माँ सरल शब्दों में कहतीं, घुमावदार भाषा में नहीं। माँ का स्नेहभरा स्वर, मीठी आवाज और हृदयस्पर्शी दृष्टि ही सन्तान के लिए पर्याप्त होती।

बेलुड़ मठ में एक दिन अपराह्न में माँ के मन्दिर के दरवाजे के सामने खड़ी एक प्रौढ़ा भक्तिमती महिला अनिमेष नेत्रों से माँ की तसवीर को निहार रही थी। उसकी छोटी कन्या भी उसे पकड़े हुए माँ की तसवीर को देख रही थी। थोड़ी देर बाद वह एक बार चित्र की ओर ताकती और फिर अपनी माँ के चेहरे की ओर देखती। तदनन्तर बड़ी उत्कण्ठा से वह अपनी माँ से बार बार पूछने लगी, "माँ, यह फोटो तुम्हारा है न, ठीक ठीक बताओ यह फोटो तुम्हारा है कि नहीं ?" जननी अपनी पुत्री की ओर देख हँसने लगी, हाँ या नहीं कुछ नहीं बोल सकी। पास में दण्डवत् प्रणाम करते व्यक्ति के मन में उठा कि शिशु के शुद्ध चित्त में सचमुच सत्य ही तो भासित हो रहा है--यही माँ तो प्रत्येक माँ के भीतर हैं। माँ की स्नेहभरी दृष्टि में क्या था कौन जाने--वे जिसकी ओर निहारतीं, वही उनका अपना हो जाता। सन्तान के समान अभी

भी उनके चित्र की ओर निहारता हुआ देख रहा हूँ, उनकी दृष्टि में अपनी जननी का प्रतिबिम्ब देख मनुष्य अपने आप को भूल जाता है।

अनेक भाग्यवान् व्यक्ति माँ के पास से ब्रह्म-चर्य और संन्यास प्राप्त कर कृतार्थ हुए थे। इसके लिए कोई विशेष अनुष्ठानादि होता दिखायी नहीं देता था। माँ श्रीठाकुरजी के सम्मुख प्रार्थना करके ही सन्तानों को इन महाव्रतों में दीक्षित करतीं-- ब्रह्मचारियों को यज्ञोपवीत, सफेद कौपीन और ऊपरी वस्त्र तथा संन्यासियों को गेरुआ वस्त्रादि देकर। संन्यास ग्रहण करने के इच्छुक लोगों को पहले से ही मुण्डन करवा लेना होता था। जयरामवाटी में एक सन्तान ने ब्रह्मचर्य ग्रहण करके पूछा, "कितने दिन यह व्रत धारण करना होगा?" माँ ने तत्क्षण दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "जितने दिन देह रहेगी!"

एक सन्तान ने संन्यास ग्रहण करने के बाद जब आशीर्वाद और उपदेश की प्रार्थना की, तब माँ ने उससे कहा, "विश्वास और निष्ठा ही असली वस्तु है, विश्वास और निष्ठा रहने से सब कुछ मिलता है।"

एक विवाहित गृहस्थ शिष्य ने एक दिन माँ के पास उपस्थित हो संन्यास के लिए प्रार्थना की। वह त्यागियों का जीवन बिताते हुए संन्यासी-सा ही था। माँ सब जानती थीं और उससे विशेष स्नेह भी करती थीं। माँ कहने लगीं, "तुम अपनी माँ के अकेले लड़के

हो, तुम्हारी गर्भधारिणी के हृदय को मैं आघात नहीं पहुँचा सकती।" उसके बहुत अनुनय-विनय करने पर माँ ने कहा कि यदि उसकी जननी संन्यास के लिए अनुमति दे तभी होगा, अन्यथा नहीं। उसकी गर्भधारिणी भी माँ के चरणों की आश्रिता थी, परम भक्तिमती और त्याग एवं वैराग्य से परिपूर्ण। वह अपने पुत्र की उन्नति के पथ में बाधा नहीं बनी, उसने अपने हाथों से गेरुआ वस्त्र रँगकर सानन्द अनुमति प्रदान की। पुत्र की मनोकामना पूर्ण हुई। माँ के करकमलों से गेरुआ वस्त्र ले, उन्हीं की अनुमति के अनुसार बेलुड़ मठ में उसने पूज्यपाद महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास विरजा होम कर योगपट्ट प्राप्त किया था। उसका स्वास्थ्य ठीक न था, दमे का मरीज था, समय समय पर प्राणों पर संकट दिखायी देने लगता। गर्भधारिणी ने पुत्र को संन्यास के लिए अनुमति तो दी थी, पर साथ ही श्री माँ के पादपद्मों में प्रार्थना भी की थी कि उसकी मृत्यु पुत्र के जीवित रहते ही हो, जिससे उसे पुत्रशोक न भोगना पड़े। माँ ने कृपा करके उसकी प्रार्थना पूर्ण की थी, पुत्र की मृत्यु के कुछ ही दिन पहले देह त्यागकर उसने अपने इष्टलोक को गमन किया था।

माँ के पास से गेरुआ प्राप्त कर एक अन्य शिष्य के माँ के घर से बाहर निकलते न निकलते उसकी गर्भधारिणी माँ ने आकर श्री माँ को पकड़ा,

जिससे उसका पुत्र वापस संसार में लौट आए। उसने खूब कातर हो विलाप किया, प्रार्थना की और आरोप भी लगाया--इसी पुत्र के भरोसे उसका सारा संसार खड़ा था, खूब कामकाजी लड़का था, घर में युवती पत्नी थी, बच्चा था, उसी के ऊपर सब निर्भर थे। माँ ने सब सुना, सहानुभूति जतलायी, किन्तु नवीन संन्यासी को घर लौटा देने की बात पर ध्यान नहीं दिया। दृढ़ स्वर में कहा, "वह तो अच्छे मार्ग में ही गया है, फिर तुम लोगों के खाने-रहने की व्यवस्था भी कर गया है, सुना है देखभाल के लिए भी लोग हैं। इसलिए घर लौट जाने की बात मैं उससे नहीं कह सकती।" यद्यपि जननी पुत्र को घर वापस न लौटा सकी, पर माँ के स्नेहाशीर्वाद से उसका हृदय बहुत कुछ शान्त हो गया और बहुत सान्त्वना-भरोसा लेकर ही वह घर वापस लौटी। संन्यास लेने पर भी जब तक गर्भधारिणी माँ जीवित थी, तब तक श्री माँ के इच्छानुसार उस पुत्र ने अपनी जननी से श्रद्धा-भक्ति का सम्पर्क बनाये रखा था तथा उसकी सुख-सुविधा की ओर वह ध्यान देता रहता था।

माँ का एक अन्य विवाहित शिष्य कुलीन और सुशिक्षित था तथा अच्छी नौकरी में था। घर में उसकी युवा पत्नी थी, जिसे पहला बच्चा होनेवाला था। पति-पत्नी दोनों ही माँ के कृपाप्राप्त थे। शिष्य के भीतर संन्यास-ग्रहण करने का आग्रह जब

अत्यन्त प्रबल हो गया, तो वह नौकरी छोड माँ के पास जयरामवाटी में आ उपस्थित हुआ। माँ से अपने अन्तर की आकांक्षा निवेदित कर वह शुभ दिन की प्रतीक्षा करते हुए पास के आश्रम में रहने लगा। इस पर माँ के पास आनेवाले किसी किसी अधिक उम्र के गृहस्थ-शिष्य ने घोर आपत्ति उठायी—"इस प्रकार के व्यक्ति द्वारा सन्यास लेना अनुचित है।" यही नहीं, उन लोगों ने अपना मनोभाव माँ के पास व्यक्त करने और उनसे प्रार्थना करने में भी कोई कमी न की कि उस युवक को संन्यास न दिया जाय। उन लोगों ने प्रस्ताव किया कि वह जो नौकरी कर रहा था—उच्चविद्यालय में शिक्षकी का—वह इसी तरफ ढूँढ़ दी जायगी। उसके शिक्षक बने रहने से बहुत से लड़के 'मनुष्य' बनेंगे, समाज और देश का कल्याण होगा, घर में पत्नी के भरण-पोषण के लिए कुछ रुपये भिजवा दिये जाएँगे तथा घर लौटने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस तरह उसके संन्यास लेने की बात को लेकर आलोचना-प्रत्यालोचना चलने लगी कि इस प्रकार के व्यक्ति को संन्यास देने से समाज का लाभ होने की बजाय नुकसान होगा; अतः इस प्रकार का कार्य होने देना उचित नहीं है—उसे रोक देना ही कर्तव्य होगा। यह सब सुनकर माँ के उस शिष्य के भीतर दारुण उद्वेग उत्पन्न हुआ। श्री ठाकुर और माँ के निकट कातर हो प्रार्थना करने के सिवाय

उसे अन्य कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ा। उस निर्जन आश्रम की पर्णकुटी में किसी प्रकार जीवन धारण किये हुए आशा-निराशा के उद्वेग में ही उसके दिन कट रहे थे। बीच बीच में उस आश्रम के एक साधु से, जो प्राय: माँ के घर आया जाया करते, वह अपनी मनोव्यथा कहता और उनसे माँ के पास उसके लिए प्रार्थना करने का अनुरोध करता। माँ कई दिन सुनती रहीं, पर कहा कुछ नहीं। जब बाधा उपस्थित करनेवालों की आलोचना बन्द हो गयी और सब चुपचाप हो गये, तब एक दिन उन साधु से उन्होंने उस युवक को भेज देने के लिए कहा। युवक अत्यन्त उत्कण्ठित हृदय से माँ के पास पहुँचा। स्नेहमयी जननी ने प्रिय सन्तान के अन्तर की आकांक्षा को अपूर्ण नहीं रखा, उसे गेरुआ वस्त्र प्रदान कर अपने हाथों से सन्यासी के रूप में सजाया। उस महाभाग्यवान् संन्यासी ने बाद में बहुजनहिताय बहुजनसुखाय सुदीर्घ जीवन यापन करते हुए वहुत से लोगों में ठाकुर-माँ की महिमा का प्रचार किया था और अनेक तप्त प्राणों को सुशीतल किया था।

जयरामवाटी में माँ को अनेक लड़कों को गेरुआ वस्त्र देकर संन्यासी बनाते देख लड़कियों के हृदय में आतंक और शोक का संचार होता। पर माँ उत्फुल्ल हृदय से हँसतीं कि चलो, उनकी एक सन्तान तो संसार की दारुण ज्वाला से मुक्त हो सकी!

भले ही माँ संसारी लड़कों को अर्थोपार्जन, विवाह और गार्हस्थ्य जीवनयापन के प्रति निरुत्साहित नहीं करतीं, तथापि वे त्यागी सन्तानों को त्याग का पथ परम उल्लास से दिखा देती थीं।

संसार का बोझ और दायित्व माँ की दृष्टि में किस प्रकार भयावह था, उसका एक दृष्टान्त दे रहा हूँ। जयरामबाटी के उत्तर में आमोदर नदी पार करने पर देशड़ा नाम का एक प्रसिद्ध गाँव है। वहाँ यथार्थ घोष नाम के एक समृद्ध गृहस्थ रहते थे। प्रारम्भिक जीवन में वे किसी डाक्टर के पास कुछ समय कम्पाउण्डर थे तथा बाद में वे अपने गाँव में डाक्टरी करने लगे। उन दिनों मलेरिया-ग्रस्त गाँवों के लोगों के लिए कुनैन-मिक्श्चर, जुलाब की दवा, टानिक, फोड़ा-घाव की दवा देनेवाला और मलहम-पट्टी जाननेवाला हो नामी-गरामी डाक्टर हो जाता। यथार्थबाबू ने डाक्टरी में अच्छा पैसा कमाया था, खेती-जमीन वगैरह भी अच्छी थी। इसके अलावा उस तरफ साधारण रेतमल कागज पर विशेष प्रकार का रसायन लगाकर नक्शा बनाने का मूल्यवान् कागज तैयार करने का एक जो प्राचीन कुटीर उद्योग था, उसके द्वारा भी उन्होंने अच्छा व्यवसाय किया था। उनके अपनी कोई सन्तान न थी, उनकी पत्नी ने अपने भतीजे को पाल-पोसकर मनुष्य बनाया था और उसने भी बड़े होने पर योग्य बनकर उन लोगों के संसार

का समस्त भार उठा लिया। यथार्थबाबू योग्य पालित पुत्र के हाथों में संसार का भार सौंप बड़े निश्चिन्त हो एक प्रकार से सुख-स्वाच्छन्द्य का जीवन बिता रहे थे। उनकी उम्र हो गयी थी--वृद्धावस्था दिखायी पड़ने लगी थी, फिर भी वे काफी मजबूत थे, घूम-फिर लेते, माँ के यहाँ प्रायः आया करते। माँ उनसे स्नेह करतीं। गांव के सम्बन्ध से वे माँ के मामा थे, इसलिए उनके शिष्यों के वे दादा थे। दादा नाती-लोगों के साथ मजलिस जमाने हमेशा आया करते। माँ को प्रणाम कर और कुशल-संवाद बतलाने के बाद दादा महोदय तम्बाखू पीते पीते लम्बे समय तक नातियों के साथ रस-रंग किया करते। संसार की चिन्ता थी नहीं--लड़का सब देख रहा था, इसलिए मजे से खाते-पीते और घूमते फिरते। कभी कभी थोड़ी बहुत डाक्टरी भी कर लेते। उनका एक बड़ा गुण था--रोगी को दवा लगने पर वे अपनी खुद की दुकान से खरीदकर लाकर देते, गरीब लोग उसी समय दाम नहीं दे पाते, तो बाद में भी देने से चलता था। इस प्रकार डाक्टरबाबू अपना अन्तिम जीवन बड़ी निश्चिन्तता में काट रहे थे। एक बार कई दिन तक उनका आना नहीं हुआ। फिर अचानक एक दिन भोर में आकर सीधे घर में प्रविष्ट हो माँ के कमरे की ओर चले गये। माँ तब ठाकुरजी को उठाकर घर में झाड़ू दे रही थीं।

माँ नित्य ही स्वयं अपने कमरे-दरवाजे को झाड़ू देकर साफ करतीं। करनेवाले न हों ऐसी बात नहीं, वे अपना काम स्वयं करना पसन्द करतीं। अपना काम वे खुद ही करतीं और जहाँ तक सम्भव होता घर-गृहस्थी के काम में भी सहायता करतीं। ऐसे ही सब कामों में लगी देख, विशेष कर रोज शाम बहुत देर तक बैठे बैठे धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा जल मिलाकर आटा गूँधते देख जब एक शिष्य ने इतनी उम्र में इतना परिश्रम न करने की प्रार्थना की, तो माँ ने उससे स्नेह-भरे स्वर में कहा था, "बेटा, काम करना अच्छा है। आशीर्वाद दो, जिससे काम करते करते ही जा सकूं!" तो, माँ नित्य के समान कमरे में झाड़ू दे रही थीं कि ऐसे समय उनके यथार्थ मामा आये और दरवाजे के सामने माथा नवाकर प्रणाम करके जोरों से फफककर रोते रोते कहने लगे, "वह परसों मर गया!" माँ के हाथ की झाड़ू गिर पड़ी। वे लड़खड़ाती हुई वहीं जमीन पर बैठ गयीं। उनकी आँखों में आँसू भर आये, चेहरा विषण्ण हो गया, आवाज रुँध गयी।

वृद्ध यथार्थबाबू अविरल अश्रुपात करते हुए सब बातें कहकर अपनी मर्मवेदना कुछ हलकी करने लगे। माँ भी मौन सब बातें सुनने लगीं—बीच बीच में बस एक-दो विलाप-ध्वनि और शोक के उच्छ्वास उठते। वृद्ध कहने लगे, "पत्नी तो शोक में पागल-जैसी

हो गयी है। खुद के पेट से सन्तान हुई नहीं, भतीजे को गोद में लेकर मनुष्य बनाया, विवाह कराया, सुख का संसार गढ़ा, उस पर कितना आशा-भरोसा किया! लड़का भी सुयोग्य निकला था, सब काम समझकर बड़े सुन्दर ढंग से संसार चला रहा था। हम लोग भी उस पर सब छोड़ निश्चिन्त हो समय काट रहे थे, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। अचानक बीमार होकर जवान लड़का मर गया, अब फिर से संसार का सारा बोझ, सारा दायित्व मुझ पर आ पड़ा है।" हृदय की ज्वाला जब कुछ कम हुई, तो वृद्ध फिर कहने लगे, "इसीलिए आपके पास दौड़ा आया। सोचा माँ के पास जाने से ही शान्ति मिलेगी, ज्वाला कुछ तो शान्त होगी।" और सचमुच ही वृद्ध ने हृदय में हलका अनुभव किया, माँ ने स्वयं ही मानो उस शोकाग्नि को खींच लिया। माँ ने शोक प्रकट करते हुए कहा, "अच्छे थे, संसार का कोई बोझ सिर पर न था, निश्चिन्त हो सुख से खाते-घूमते दिन काट रहे थे, अब फिर सब कन्धे पर आ पड़ा।" वृद्ध भी हाहाकार करते हुए कहने लगे, "एक ओर पत्नी शोक में पागल है, फिर उस लड़के की नौजवान विधवा है, कच्चे-बच्चे हैं, उसके ऊपर संसार का बोझा, घर-द्वार, गाय-बछड़े, खेती-बाड़ी—सब कुछ अब मुझे ही देखना होगा। जो छोड़कर बेफिकर हो गया था, अब वही संसार फिर से कन्धे पर आ टूटा।"

माँ ने भी बहुत सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, "देखो न, बुढ़ापे में फिर से संसार कन्धे पर आ टूटा।" यथार्थबाबू अपने हृदय को बहुत कुछ हलका कर प्रणाम कर बिदा हुए। माँ तब भी उसी प्रकार स्थिर दृष्टि से बैठी रहीं—हाथ की झाड़ू पास ही पड़ी थी, सिर पर का कपड़ा खिसक गया था। जमीन पर पैर फैलाये, थोड़ा बगल की ओर झुकी हुई, बायाँ हाथ मानो जमीन पर टेककर, उस पर कन्धे का वजन डालते हुए, दाहिना हाथ गोद में रखे माँ अनमनी-सी बैठी रहीं। क्या सोच रही होंगी? कुछ क्षण बाद दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहने लगीं, "वृद्धावस्था में यथार्थ के कन्धों पर संसार आ टूटा!" एक शिष्य देख रहा था। उसे लक्ष्य कर थोड़ा रुक-रुककर फिर कहने लगीं, "वृद्धावस्था में यथार्थ के कन्धों पर संसार आ टूटा!" संसार-बोझ के प्रति माँ का ऐसा गहरा निराशाजनक भाव और वृद्ध के प्रति उनकी सहानुभूति देख शिष्य के मन में प्रश्न उठा—क्या मृत्युशोक की अपेक्षा भी संसार का बोझा वहन करना कठिन है? शिष्य की उमर कम है, संसार का बोझा क्या होता है, यह वह नहीं समझ सका, फिर भी माँ की चिन्ता देख उसे लगा कि वह निश्चय ही दुस्सह है।

इसीलिए माँ को अपनी किसी सन्तान के संसार-बन्धन के कटने पर बड़ा आनन्द होता।

लाख पतंगों में जब कटती दो या एक पतंग।
ताली बजा बजा हँसती हो तुम करती हो रंग॥

(क्रमश:)

●

पाठकों को विशेष सुविधा

विवेक-ज्योति के पुराने निम्न २१ अंक मात्र १५) अग्रिम भेजकर बिना अतिरिक्त डाकखर्च के प्राप्त करें। अन्यथा वी. पी. व्यय ग्राहकों को देय होगा।

वर्ष	९	सन् १९७१	के अंक २, ३	प्रति अंक	मूल्य १)
,,	१०	,, १९७२	के अंक ३, ४	,,	,,
,,	११	,, १९७३	के अंक २, ३, ४	,,	,,
,,	१२	,, १९७४	के अंक २, ३, ४	,,	१)५०
,,	१३	,, १९७५	के चारों अंक	,,	,,
,,	१४	,, १९७६	के चारों अंक	,,	,,
,,	१५	,, १९७७	के अंक १, ४	,,	,,
,,	१६	,, १९७८	का अंक २	,,	,,

लिखें—व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय,

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

स्वामी शिवानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

जिन लोगों के स्नेह की छाया में मेरा साधु-जीवन विकसित हुआ है, उनमें पूजनीय श्री महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) अन्यतम हैं। जब मैंने मठ में पहले-पहल प्रवेश लिया, उस समय मठ-मिशन के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान थोड़ा था; श्री महापुरुष महाराज का असीम स्नेह-प्यार न मिलने पर मठ-मिशन में रहना मेरे लिए सम्भव होता या नहीं इसमें सन्देह है। पूजनीय हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के आदेश से पढ़ाई पूरी करने के लिए सम्भवत: १९१९ में काशी से कलकत्ता लौटा था। किन्तु पढ़ाई पूरी हुई नहीं। जिन दिनों अच्छा खासा मन लगाकर पढ़ाई करने की चेष्टा कर रहा था, ऐसे में एक दिन घूमते घूमते मठ में आ पहुँचा। इसके पहले महापुरुष महाराज के साथ थोड़ा परिचय-वार्तालाप हुआ था। मैं काशी में रहता हूँ और पूजनीय हरि महाराज के पास जाता हूँ यह जानकर महापुरुषजी ने स्नेह से कुछ बातें पूछी थीं। इसके बाद भी मैंने दो-एक बार मठ में उनके दर्शन किये थे और उन्हें यह भी बतलाया था कि मैं परीक्षा में फिर से बैठने की तैयारी कर रहा हूँ। मठ के एक ब्रह्मचारी से भी उस समय बातें हुई थीं। उनको मैंने अपनी परीक्षा के पहले की और

बाद की मन:स्थिति भी बतलायी थी। जिस दिन की यह बात है, सम्भवत: उस दिन स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज की जन्मतिथि थी। शाम से कुछ पहले मठ पहुँचा था। तब उत्सव प्राय: समाप्त होने को था। मुझको देखकर ब्रह्मचारीजी उत्साह से कहने लगे, "अजी, देखता हूँ आज तो बड़े अच्छे दिन आये हो। चलो तुमको महापुरुष महाराज के पास ले चलता हूँ।" ब्रह्मचारीजी ने इसी बीच उनके पास जाकर मेरे सम्बन्ध में कुछ कहा या नही यह तो नहीं जानता, पर मेरे प्रणाम करते ही मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए उन्होंने पूछा, "तो, अब तुम क्या करोगे?" उनकी यह बात मुझे अभी भी अच्छी तरह याद है। एकदम अप्रत्याशित रूप से मेरे मुख से निकल पड़ा, "यदि आप कृपापूर्वक अपने आश्रय में रख लें, तो यहीं रहूँगा।" यह बात कैसे मेरे मुख से निकली यह अभी तक मैं नहीं समझ पाया हूँ, क्योंकि उसके लिए उस समय मैं बिलकुल ही प्रस्तुत न था। किन्तु उसके उत्तर में उससे भी अधिक विस्मित करते हुए पूजनीय महापुरुष महाराज कह उठे, "चले आओ, चले आओ, तुम लोगों के लिए ही तो स्वामीजी यह मठ बना गये हैं।" अत्यन्त पुलकित हो मैंने पूछा, "कब आऊँ?" उन्होंने कहा, "जिस दिन इच्छा हो; कल ही आ सकते हो।" फिर थोड़ा सिर हिलाकर मुसकराते हुए कहने लगे, "फिर भी मघा, अश्लेषा और बृहस्पतिवार की अशुभ

घड़ियों को बचाकर आना। ठाकुर यह सब मानते थे, जानते हो न?" हम अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग विश्वास करें न करें शायद ऐसा सोचकर ही उन्होंने ऐसा कहा था। जो हो, दूसरे दिन ही मठ आ गया। यह नहीं जानता था कि इसके लिए और किसी को कुछ बतलाना पड़ेगा। इसलिए सन्ध्या के बाद मुझे मठ में देख बहुत से लोग नाना प्रकार के प्रश्न पूछने लगे। उन लोगों के सभी प्रश्नों के उत्तर देने की इच्छा तो नहीं हो रही थी, फिर भी दिये। उस दिन पहली बार मठ में रात्रि-वास किया। कठोर जीवन का अभ्यास न होने से उस दिन पर्याप्त कपड़ों के अभाव में मैं ठण्ड के मारे रात भर सो न सका। सबेरे पूजनीय महापुरुष महाराज को प्रणाम करते ही उन्होंने सर्वप्रथम पूछा कि रात में नींद हुई या नहीं। संकोच-पूर्वक मैंने उन्हें सब बतलाया। उन्होंने दु:खित होकर उसी समय मठ के व्यवस्थापक को इस विषय में और अधिक ध्यान देने के लिए कहा।

आनन्द से मठ में दिन बिताने लगा। लगता है कि महापुरुष महाराज मेरे अन्तर्द्वन्द्व की बात जान गये थे। वे प्रतिदिन सुबह मठ में चहलकदमी करते थे, एक दिन अचानक मुझसे कहने लगे, "चलो, आज मेरे साथ घूमने चलो, तुम्हारी सब बातें सुननी होंगी।" चहलकदमी करते करते उन्होंने उस समय की मेरी मानसिक अवस्था जानने की इच्छा प्रकट की। मैंने

कहा, "महाराज, बीच बीच में यह बात मेरे मन में उठती है कि परीक्षा देकर सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण हो आपके संघ में प्रवेश लेना अच्छा होता, तथापि यहाँ रहने पर भी बड़ा अच्छा लग रहा है।" सुनते ही उन्होंने कहा, "देखो, तब तो तुम परीक्षा दे ही दो। जानते हो न, श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि गोबर का कीड़ा अपने मुँह में थोड़ा गोबर लगाकर चारों तरफ घूमता फिरता है, कितने सुगन्धित फूलों के बगीचों में से भी शायद गुजरता हो, किन्तु उस थोड़े से गोबर के कारण वह और कोई गन्ध नहीं पाता। तुम्हारी भी इस प्रकार कोई वासना हो तो पहले उसे पूरा कर आओ, बाद में बने तो साधु होना।" परन्तु दूसरे दिन ही मैंने उनसे कहा, "नहीं, महाराज, मेरी वह वासना चली गयी है, दया करके अपने आश्रय में ही मुझे रख लें।"

तब से उनके आश्रय में ही रह गया। अनेक प्रकार के संस्कार ले साधु बनने गया था; इसलिए बीच बीच में वे संस्कार अपना सिर उठाते रहते। मठ के साधु लोग ठाकुरजी की नाना प्रकार से पूजा-सेवा करते, किन्तु मैं सोचता कि यह सब व्यर्थ समय नष्ट करना है—जप-ध्यान लेकर ही तो उन लोगों को रहना उचित है। पता नहीं मेरे मन के इस भाव का आभास महापुरुष महाराज को हुआ था या नहीं। एक दूसरे दिन जब उनके साथ चहलकदमी कर रहा

था, तब कुछ साधु सब्जी के बगीचे में पानी डाल रहे थे, उनको दिखाकर वे कहने लगे, "देखो, देखो, ये सब कैसे ठाकुरजी की सेवा कर रहे हैं।" पहले मैंने देश और समाज के लिए कुछ काम किया था। उसकी तुलना में साधुओं का यह कार्य मुझे तुच्छ प्रतीत होता था, इसीलिए कहने लगा, "महाराज, सो तो ठीक है, पर यह तो बचपना-सा लगता है; इस प्रकार के काम तो हमने इसके पहले कितने किये हैं।" वे मेरी बात का मर्म समझ गये, कहने लगे, "हाँ, पर यह ठाकुरजी का काम है।" तब मैं यह नही समझ सका था कि यह कार्य ठाकुरजी की सेवा का अंग है और मेरा पहले का कार्य अहंकार-मिश्रित था। सम्भवत: इसी को समझाने के लिए महापुरुष महाराज ने इस प्रकार इंगित किया था।

रोज सुबह-शाम पूजनीय महापुरुष महाराज का पुनीत संग-लाभ करके सच ही स्वयं को धन्य अनुभव करता था। भोर में और सन्ध्या समय वे पुराने मन्दिर के भीतर दीर्घ दो घण्टे तक ध्यान करते थे। हम लोग भी बाहर बरामदे में बैठकर ध्यान करने की चेष्टा करते। हमारी इस छोटी सी चेष्टा को ही वे बढ़ाकर हम लोगों के सामने रखते और हमें इस प्रकार चेष्टा करते देख "लग जाओ, उठो और लग जाओ" कहकर कभी कभी उत्साह देते। भोर में और सन्ध्या समय ध्यानादि के पश्चात् भाव

में तन्मय हो वे अपने कमरे में अथवा कभी उत्तर की ओर के बरामदे में बेंच पर बैठते। हम लोग भी एक एक करके उनको प्रणाम करते। धीर गम्भीर भाव से तब वे हम लोगों का नाम पुकारकर—"कैसे हो, सु–?" इस प्रकार पूछते। उस सुमधुर गम्भीर वाणी को सुन हम लोगों के प्राण भर उठते, मन के समस्त संशय दूर हो जाते। मन में लगता मानो आनन्द की खान का स्वाद हमने पाया है; अब तो सारे सन्देह उनकी कृपा से शीघ्र ही दूर हो जाएँगे।

लगभग अढ़ाई साल तक लगातार मठ में रहने के बाद मठ के संचालकों के आदेश से ढाका, वरीसाल इत्यादि स्थानों के मिशन-केन्द्रों में कर्मी के रूप से जाना पड़ा। मठ से पूजनीय महापुरुषजी के पुनीत सान्निध्य से दूर जाने का एकदम मन नहीं होता था, फिर भी उन लोगों का आदेश समझ उसे ग्रहण किया। इसी बीच एक दिन महापुरुष महाराज को प्रणाम करके मैंने कहा, "महाराज, दूर जा रहा हूँ, मुझ पर कृपादृष्टि बनाये रखेंगे।" सुनते ही उन्होंने कहा, "दूर जा रहे हो! कहाँ जा रहे हो? जहाँ जाओगे, वहीं तो वे हैं, उन्हीं के आश्रम में जाओगे। दूर कहाँ?"

और एक दिन इसी प्रकार अन्यत्र जाने के समय मैंने कहा था, "महाराज, आशीर्वाद दीजिए।" सुनते ही महापुरुषजी कहने लगे, "आशीर्वाद?

देखो, हम लोगों के मुख से कभी भी अभिशाप नहीं निकलता। तुम लोगों से जो कुछ मैंने कहा है, यदि उसमें तिरस्कार भी रहा हो, तो भी सब आशीर्वाद ही समझना।" काशी से कलकत्ता आते समय पूजनीय हरि महाराज के मुख से भी इसी प्रकार की बात सुनी थी।

जब पूजनीय महापुरुष महाराज अत्यन्त अस्वस्थ होकर मधुपुर में स्व० पूर्ण सेठ के बगीचेवाले मकान में रह रहे थे, तब एक दिन मंने अपने आन्तरिक जीवन के अभाव को बतलाते हुए उनसे कहा, "महाराज, साधन-भजन करके कुछ तो नहीं हो रहा है।" वे तब दोपहर के भोजन के उपरान्त थोड़ा विश्राम के लिए लेटे ही थे। पर मेरी बात सुन उठकर बैठ गये और कहने लगे, "देखो, छोटा बच्चा बीमारी से चंगा होते ही अपनी माँ से कहता है—'माँ, मुझको भात दो, मैं थाली-भर भात खाऊँगा।' पर माँ जानती है कि उसके पेट में कितना सहेगा, इसलिए उसको उतना ही देती है जितना सहेगा, बाद में यदि वह सह जाय तो थोड़ा और देगी; तुम लोगों का भी ऐसा ही है, समय आने पर वे (जगन्माता) सब समझा देंगी।"

इस प्रकार उत्साहवर्धन करनेवाली बातें उनके मुख से अनेक बार सुनने का सौभाग्य मुझे मिला था। एक दिन वे अपने कमरे में एकाग्र चित्त से पाश्चात्य

दार्शनिक स्पिनोजा का दर्शन पढ़ रहे थे, एकाएक अपने आप कह उठे, "वाह, क्या बढ़िया लिखा है !" मैं तब चुपचाप उनके कमरे में प्रविष्ट हो एक कोने में खड़ा था। उनके पढ़ने में किसी प्रकार का विघ्न न हो, इसलिए मैंने कोई बात नहीं की थी। अचानक मुझको पास में खड़ा देख कहने लगे, "अच्छा, तुमने क्या यह किताब पढ़ी है ?" कालेज में पढ़ते समय वह मैंने पढ़ी थी, इसलिए कहा, "हाँ महाराज, पढ़ी है।" उन्होंने तब कहा, "देखो, देखो, कैसा सुन्दर लिखा है। भगवान् के सम्बन्ध में कहते हैं--To define Him is to limit Him; to determine Him is to negate Him, of Him we can only say that He is-- अर्थात् 'ईश्वर की कोई परिभाषा करने का अर्थ ही उन्हें सीमित करना है; उनके सम्बन्ध में निश्चित कुछ कहना वे जो नहीं हैं वही कहना है; उनके सम्बन्ध में हम बस इतना ही कह सकते हैं कि वे हैं।' देखो, ठीक हमारे वेदान्त की तरह 'वे सत् हैं' बस इतना ही कहा जा सकता है, यह छोड़ और कुछ नहीं कहा जा सकता।" यह कहते ही आगे फिर कहने लगे, "देखो, देखो, He is --इसके बाद ही वे लिखते हैं-- It is better to say that It is --देखो, देखो, वे लिंग-भेद से परे हैं यही समझाने की चेष्टा कर रहे हैं, ठीक हमारे 'ॐ तत् सत्' के समान।

उनका 'तत्' कहकर निर्देश कर रहे हैं, 'सः' वा 'सा' से नहीं; वे सचमुच ही इसी प्रकार हैं।" यह सुनकर मैंने कहा, "महाराज, इस 'सत्स्वरूप' के सम्बन्ध में तो कुछ समझ नहीं पाता, फिर भी ध्यान करने से कुछ आनन्द पाता हूँ इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'आनन्दस्वरूप' हैं।" सुनकर वे कहने लगे, "ठीक कहते हो, फिर भी, बेटे, उनकी कृपा से जब उनका यथार्थ आस्वादन करोगे, तब देखोगे कि वे आनन्द और निरानन्द दोनों से परे हैं।"

महापुरुष महाराज हमेशा अन्यमनस्क रहते थे, उनके आचार-व्यवहार में उदासीनता ही झलकती थी। वे बाहर से बहुत सख्त प्रतीत होने पर भी भीतर से अत्यन्त कोमल थे। उनके स्नेह आदि की बात पहले भी बतलायी है। ढाका से एक बार मठ आया था, उस समय अनेक कारणों से शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। पूजनीय महापुरुष महाराज पश्चिमवाले बरामदे में एक बेंच पर बैठे थे, दूर से मुझे नंगा बदन देख कहने लगे, "सु– तो एकदम पहलवान हो गया है!" उन्होंने अवश्य यह बात विनोद में ही कही थी। मैंने भी उसी स्वर में उनसे कहा, "हाँ महाराज, पर आपका स्वास्थ्य अच्छा है न?" ब्रह्मज्ञ पुरुष अपने भीतर डूब गये; कहने लगे, 'हमारे शरीर की बात पूछते हो? देखो, उनकी कृपा से इस साँचे में जो ढ़लना था, सब ढल गया है!

समझते हो, सब ढल गया है !" वे अपने सहज स्वभाव से इस बात को बार बार दुहराने लग। हम लोग अवाक् रह गये। अपने सम्बन्ध म इस प्रकार कहते उन्हें कभी नहीं सुना था।

वैसे उनकी देह-ज्ञान-शून्यता हमने अनेक बार देखी थी; अत्यन्त रुग्णावस्था में भी डाक्टर द्वारा 'कैसे हैं' पूछने पर उनके मुख से पहले ही निकलता—"मैं अच्छा ही हूँ," जबकि उस समय उन्हे श्वास की भयंकर तकलीफ थी। डाक्टर (अजित राय-चौधुरी) उनका मनोभाव समझते थे, इसलिए कहते, "हाँ, महाराज, आप तो अच्छे हैं, फिर भी इस देह की बात पूछ रहा हूँ।" तब अपने में मस्त महापुरुष महाराज पास मे खड़े सेवक से कहते, "बता दे, कैसा हूँ, कल कैसा था।" सेवक भी छोटे बच्चे को समझाने के समान कहता, "अच्छ ही हैं, कल खूब सोये थे," इत्यादि। वे इस बात को दुहराते हुए कहते, "हाँ, हाँ, देखो खूब अच्छा ही हूँ, कल खूब सोया था"—इत्यादि। पता नहीं बाद म उनके सेवक महाराज डाक्टर को उनके स्वास्थ्य की वास्तविक जानकारी देते थे या नहीं। अन्य कोई उनसे शरीर के सम्बन्ध में पूछता, तो वे कहते, "देखो, यह शरीर तो षड्विकारवाला है—जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—इसकी यही छह अवस्थाएँ हैं, यह सब तो होगा ही।

इसकी बात सोचकर क्या होगा ?"

जब मैं मठ में प्रविष्ट हुआ था, उसी समय महापुरुष महाराज काशी, हिमालय आदि स्थानों में कठोर तपस्या करके मठ लौटे थे। कठोर तपस्वी का भाव उस समय भी उनके आचार-व्यवहार में झलकता था। वे पूरी तरह से निरपेक्ष रहने की चेष्टा करते। वे सदैव से स्वावलम्बी थे—उनका निजी सेवक कोई नहीं था। उन दिनों महापुरुषजी लोगों का संग अधिक पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उनके पास जाने में बहुतों को भय होता।

बाद में देखा उनका वह भाव धीरे धीरे दूर होता गया। श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) के स्थूल देह में रहते महापुरुष महाराज ने विशेष किसी को दीक्षा नहीं दी। उनके पास कोई यदि दीक्षा की प्रार्थना लेकर जाता, तो वे उसे लौटा देते और यदि बार बार प्रार्थना करता, तो श्री महाराज के पास जाने के लिए कहते। श्री महाराज के देहत्याग से कुछ पूर्व उनके आदेश से वे स्वामी अभेदानन्दजी के साथ ढाका गये और महाराज के इच्छानुसार ही वहीं से दीक्षा देना प्रारम्भ किया। श्री महाराज के ढाका जाने की बात थी; किन्तु वे नहीं जा पाएँगे ऐसा समझकर महापुरुष महाराज ने श्री महाराज ने पूछा, "तब....वहाँ दीक्षार्थियों का क्या होगा ? तुम वहाँ नहीं जाओगे, तो उन्हें कौन

दीक्षा देगा ?" श्री महाराज ने हम लोगों के सामने ही हँसते हँसते कहा था, "तारक दादा, हाथ खोलिए' --अर्थात् अपनी संचित शक्ति को इस बार हाथ खोलकर वितरित कीजिए। श्री महाराज क्या सच-मुच उन्हें दीक्षा देने के लिए कह रहे हैं यह जानने के लिए उन्होंने तीन बार उनसे यही प्रश्न पूछा और तीनों ही बार यही एक उत्तर मिलने पर उन्होंने कहा था, "तो ठीक है, वैसा ही होगा। जय श्री गुरुमहाराज की !" इत्यादि। वही हुआ। महापुरुषजी ने ढाका और मैमनसिंह आदि स्थानों में मुक्तहस्त हो दीक्षा दी थी। बाद में पूजनीय श्री महाराज की अन्तिम बीमारी की बात सुनकर मठ लौटे थे ।

कुछ दिन बाद श्री महाराज का शरीर शान्त हो गया । तब मठ-मिशन का सारा दायित्व महापुरुष महाराज पर आ पड़ा । उस समय देखा कि उनका स्वभाव एकदम बदल गया है। दीक्षा देते समय वे कहते, "मैं किसी का गुरु नहीं हूँ, ठाकुरजी तुम्हारे गुरु हैं--मैंने मात्र उनके चरणों में तुम्हें समर्पित कर दिया है।"

अन्तिम समय में तो वे किसी को भी वापस नहीं करते थे । याद आता है एक समय वरीशाल से कुछ भक्त लोग आये थे । मैं उस समय वरीशाल में रहता था । भक्तों को दीक्षा का इच्छुक जान

में पूजनीय महापुरुषजी के कमरे में गया। वहाँ मैंने देखा कि वे श्वास से बहुत कष्ट पा रहे हैं। उनके सेवक ने कहा, "इस अवस्था में दीक्षा की बात उठाना एकदम असम्भव है।" मुझे भी वैसा ही लगा। पर बाद में फिर जब उनके कमरे में गया तो देखा कि वे कुछ स्वस्थ हुए हैं। तब धीरे धीरे उन भक्तों की दीक्षा की बात उठायी। सुनकर परम करुणामय महापुरुष महाराज ने उन लोगों को बुलवाया और कमरे में बिठाकर ही उन्हें कृतार्थ किया।'

इस प्रकार दीर्घ अस्सी या उससे भी कुछ अधिक काल तक नरदेह में रहकर महापुरुषजी ने कठोर साधु-जीवन यापन कर तथा आपामर सब लोगों पर अपार करुणा करते हुए सन् १९३४ में देहत्याग किया था। उनके स्नेह और अहेतुक प्रेम से हम ही क्यों, दीन, दुःखी, पीड़ित, आर्त सभी धन्य हुए थे, इस बात का स्मरण कर आज भी मन में सान्त्वना मिलती है—"हृष्यामि च मुहुर्मुहुः! हृष्यामि च पुनः पुनः!"

•

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—
मनमोहन मित्र एवं रामचन्द्र दत्त

स्वामी प्रभानन्द

एक भयंकर बाढ़ से पृथ्वी आप्लावित हो गयी थी। वह अपने साथ सब कुछ बहा ले जा रही थी। वह भी उस बहाव में छाती से बँधी पटियें के सहारे इतस्ततः उतरा रहा था। एक पुल की कमानी के नीचे थोड़ी देर के लिए वह रुका। सहसा उसमें भय समा गया। वह फूट पड़ा—"क्या इस संसार में कोई भी जीवित नहीं बचा ?"

"नहीं, कोई नहीं बचा," उसे उत्तर मिला।

"मेरी पत्नी, माँ, बच्चियाँ—क्या सभी मर गये ?" वह चिल्लाया।

"सब मर गये," तुरन्त उसे उत्तर मिला।

"तो क्या कोई भी जीवित नहीं ?"

"नहीं, सिवाय उनके, जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं।"

उसका दम दुःख से घुटने को ही था कि अकस्मात् वह जोरों से चिल्ला उठा—इतने जोरों से कि उसकी पत्नी और माँ सोते से जाग उठीं और उससे चिल्लाने का कारण पूछने लगीं। वह सिर्फ इतना ही बोल सका, "तुम लोग कौन हो ? देखो, मेरी माँ और पत्नी मर गयी हैं।" यह सुनकर वे लोग स्तम्भित हो गयीं।

वह एक विचित्र सपना देख रहा था और सपना इतना स्पष्ट था कि उसे उसने केवल सच ही नहीं मान लिया था, वरन् उसकी विचित्रता और धक्के से वह अभिभूत हो उठा था[१]। यद्यपि वह स्वप्न ही था, फिर भी उसके अन्तर्मन में उठता कि इसका उसके लिए अवश्य कोई अर्थ है। यह एक रविवार के भोर की घटना होगी। स्वप्न देखनेवाला व्यक्ति था कोन्नगर के भुवनमोहन मित्र का पुत्र मनमोहन मित्र (१८५१–१९०३)।

बंगाल सचिवालय के सन्दर्भ-विभाग में कार्यरत मनमोहन हिन्दू धर्म के प्रति उस समय जो आक्षेप लगाये जाते थे, उनसे अपने को अवगत रखते थे। ब्राह्म समाज की ओर उनका झुकाव था और सात महीने की कन्या की मृत्यु के बाद उनका यह झुकाव और भी गहरा हो गया था[२]। ब्राह्म लोगों द्वारा गायी

१. रामकृष्ण मिशन के १६–५–१८९७ को हुए चतुर्थ अधिवेशन में श्री मनमोहन मित्र ने ये बातें कही थीं।

२. बाद में मनमोहन बतलाते थे कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण के प्रभाव से उनकी चेतना में परिवर्तन हुआ था :—"मेरी सात महीने की कन्या की मृत्यु होने पर जब उसे दफना दिया गया, तब मैं उस दफनाये हुए स्थान को खोजने का प्रयास किया करता, जिससे देह को सुरक्षित रख सकूँ। पता नहीं कैसे मेरे अन्दर यह धारणा घर कर गयी थी कि यदि उसकी देह को फिर से पा लूँ, तो वह पुनः जीवित हो जायगी। मेरा मन इस प्रकार के विचार से भ्रमित हो उठा

जानेवाली प्रार्थनाओं में उन्होंने सान्त्वना पाने की कोशिश की, पर ब्राह्म धर्म के प्रति अपनी आस्था अधिक दिनों तक नहीं टिकाये रख सके। उनके ममेरे भाई रामचन्द्र दत्त (१८५१–९९) केमिस्ट और चिकित्सक थे। वे संशयवादी थे और मनमोहन के अपने विश्वास के पक्ष में चुने हुए तर्कों का वे खण्डन कर देते थे। इससे मनमोहन विश्वास और तर्क की विपरीत तरंगों के बीच फँस गये। तथापि उन दोनों की इस बौद्धिक जिज्ञासा ने उन्हें अविश्वास से, जिससे वे लोग ग्रस्त थे, पार जाने में सहायता दी थी।

रामचन्द्र दत्त के पिता नृसिंहप्रसाद दत्त निष्ठावान् वैष्णव थे और घर में प्रतिदिन कृष्ण की उपासना करते थे। राम जब छोटे थे, तब उनके पिता ने दूसरी बार विवाह किया था। राम अपने पिता और सौतेली माँ के साथ रहते थे। वे अपनी सौतेली माँ से सन्तुष्ट न थे, इसलिए उनमें और पिता के बीच कभी कभी गलतफहमी हो जाया करती। राम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ईश्वर और धर्म के सम्बन्ध में बहुत संशयवादी थे, इसलिए उन्हें कोई मानसिक

था। अभी आप लोगों को कुछ भी धारणा नहीं हो सकती कि उस समय मेरी मानसिक अवस्था कैसी थी . . .। यह श्रीरामकृष्णदेव के आशीर्वादों का ही फल है कि भ्रम के वे बादल दूर हो सके।''

('तत्वमंजरी', वर्ष ९, अंक ६, पृ. १३४)

शान्ति नहीं मिल रही थी।

इसी समय परिवार के एक हादसे ने, लगता है, रामचन्द्र की ईश्वर में अनास्था और वैज्ञानिक दृष्टि-कोण की नींव को ही उखाड़ फेंका और यही उनके जीवन में मोड़ लानेवाला बन गया। उनकी एक प्यारी कन्या की मृत्य हो गयी, तब वह पुरातन प्रश्न कि 'क्या मनुष्य की आत्मा इस भौतिक देह के नष्ट होने के बाद भी रहती है ?' उनके भीतर बार बार उठने लगा। उनका जड़वादी तर्क उन्हें इसमें ज्यादा दूर तक नहीं ले जा सका। काली-पूजा के दिन जब अपराह्न में उनका मस्तिष्क इस कठिन प्रश्न से परेशान था, तब शिशिर के सुहावने आकाश को देख उन्हें लगा कि चिन्ताओं के बादल भी उनके मस्तिष्क से छँट रहे हैं। वे अपने आप से पूछने लगे, "मैं क्या कर रहा हूँ ? मैं कहाँ जा रहा हूँ ? इस विस्तृत विश्व के सम्बन्ध में मैं जानता ही कितना हूँ ? क्या मनुष्य का जीवन भी आसमान में तैरते बादलों के एक क्षुद्र टुकड़े जैसा ही नहीं है ?" उन्होंने फिर से ऐसे दर्शन की खोज शुरू कर दी, जो जीवन का अर्थ समझा दे। यह तलाश उन्हें केशव चन्द्र के लेखों और व्याख्यानों के पास ले आयी और इससे अन्य बातों के अलावा उन्हें दक्षिणेश्वर के सन्त श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में जानकारी मिली।

इसके बाद एक रविवार की सुबह राम सड़क

पर चहलकदमी कर रहे थे, तब एक पूर्वपरिचित से उनकी भेंट हुई, जो योगाभ्यास किया करते थे। राम ने अपनी समस्या उनके सामने रखी। तब योगी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया कि उनका इलाज तभी हो सकता है, जब ईश्वर उनके सामने 'चिकित्सक' के रूप में आएँ। राम के मन में एक विचार कौंध उठा—"क्यों न मैं अपने हृदय को दक्षिणेश्वर के परमहंस के सामने खोलकर रख दूँ।" इससे उनमें आशा का संचार हुआ और हृदय में उत्साह जागा। वे अपने भाई मनमोहन के घर की ओर बढ़ चले।[3]

इसी बीच मनमोहन मित्र ने भी केशव के समाचार-पत्र 'सुलभ समाचार' में छपी रिपोर्ट के माध्यम से रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में जाना था। उन्होंने अपने मित्र प्राणकृष्ण दत्त से और भी अधिक विस्तार में परमहंस के बारे में सुना था, जो कई बार परमहंस के पास जा चुके थे।

अब रामचन्द्र ने मनमोहन के सपने की बात सुनकर कहा, "तुमने जो देखा है, वह सच ही है। वास्तव में सभी मनुष्य माया से मोहित हैं। कोई भी सही अर्थ में जीवित नहीं है। सभी अचेतन रूप से जिये जा रहे हैं।" मनमोहन ने सुझाव दिया,

---

३. 'महात्मा रामचन्द्रेर वक्तृतावली' (बंगाली), प्रकाशक – श्रीश्रीरामकृष्ण समाधि महापीठ, योगोद्यान, काँकुड़गाछी, कलकत्ता—५४, तृ. सं., खण्ड १, पृ. ३६–८।

'हम लोग दक्षिणेश्वर के परमहंस के बारे में बहुत समय से सुन रहे हैं, पर अफसोस है, अब तक उनके दर्शन के लिए हम लोग समय नहीं निकाल पाये!"

"तब आज ही क्यों न चलें," रामचन्द्र ने उत्तर दिया। "आज छुट्टी का भी दिन है। हम लोग जा सकते हैं।" मनमोहन ने भी अपनी सम्मति जतलायी।

रविवार का दिन था वह, १३ नवम्बर, १८७९ ईसवी। दोनों भाइयों ने दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया और जाकर स्वयं प्रत्यक्ष देखना चाहा कि वे कैसे परमहंस हैं। हुगली जिले के आँटपुर गाँव के गोपाल मित्र, जो कि दोनों के ही मित्र थे, को साथ ले वे किराये की नौका में चले। दक्षिणेश्वर मन्दिर पहुँचने पर वे बगीचे में इस आशा से घूमने लगे कि कोई जटा-जूटधारी और अंगों में भस्म लगाये हुए साधु दिखायी पड़ जायँ। उन्हें एसा कोई नहीं मिला। अन्त में किसी ने उन्हें एक कमरे की ओर जाने के लिए कहा, पर उन्होंने देखा कि कमरे का दरवाजा बन्द है और बाहर बरामदे में कुछ पुलिस-वाले बैठे हैं। दरवाजा चूँकि बन्द था और सभ्यता के नाते किसी बन्द दरवाजे को धक्का देना शोभा नहीं देता, इसलिए वे लोग गंगा के घाट की तरफ लौट गये। जो हो, उन लोगों से किसी ने दरवाजे को खटखटा लेने के लिए कहा। वे सलाह मानकर

फिर से उस कमरे तक आये और दरवाजे पर दस्तक दी। वह खुला और एक साधारण से दिखनेवाले व्यक्ति ने झुककर 'नारायण' कहकर उनका अभिवादन किया।[४] उन लोगों ने अपना सिर हिलाकर उसका प्रत्युत्तर दिया। कमरे में स्वागत करते हुए उस व्यक्ति ने उन्हें उसी बिस्तर पर बैठने के लिए कहा, जिस पर वह बैठा था। उसने पूछा, "आप लोग कहाँ से आ रहे हैं ?" उन लोगों ने अपना परिचय दिया। वह सरल शान्त दिखनेवाला व्यक्ति अस्तव्यस्त भाव से बँधी हुई धोती पहने हुए था, जिसका एक छोर उसके कन्धे पर पड़ा हुआ था। उन लोगों ने एक अन्य ऊँचे और बलिष्ठ व्यक्ति को जमीन पर बिस्तर में लेटे हुए देखा। श्रीरामकृष्ण, जिन्होंने उन लोगों का स्वागत किया था, उस लेटे हुए व्यक्ति से कहने लगे, "देख रे हृदू, ये लोग कितने शान्त और चुप हैं। ये ब्राह्म समाज के सदस्य नहीं हैं।" इस पर मनमोहन ने आपत्ति करते हुए कहा कि वे अपने बचपन से ब्राह्म समाज में जाते रहे है और मूर्ति-पूजा को हेय दृष्टि से देखते हैं। इस पर धीरे से उत्तर मिला, "पर तुम किसी दल या सम्प्रदाय के नहीं हो यही मैं कह रहा था।" श्रीरामकृष्ण ने आगे कहा, "जिस प्रकार मिट्टी का बना हुआ सीता-

४ वही, पृ. ३९; 'भक्त मनमोहन' (बंगाली), उद्बोधन, १ उद्बोधन लेन, कलकत्ता—३, पृ. २७।

फल मन में असली सीताफल की स्मृति ला देता है, उसी प्रकार देवी-देवताओं की मूर्तियाँ ईश्वर की असली लीला के विचार जगा देती हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, उनके लिए सब सम्भव है।"

जो हो, रामचन्द्र को पहली ही दृष्टि में भीतर से ऐसा लगने लगा कि श्रीरामकृष्ण उनके अपने हैं। वे एकटक श्रीरामकृष्ण को निहार रहे थे और जितना ही अधिक देखते, उतना ही अपने हृदय में आनन्द का अनुभव कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने भी अपनी कभी न चूकनेवाली दृष्टि से उन आगन्तुकों में अपने दो अन्तरंग भक्तों को पहचान लिया था।

सहसा रामचन्द्र की ओर देखकर उन्होंने कहा, "क्या तुम डाक्टर नहीं हो? (हृदयराम की ओर दिखाकर) क्या इसकी जाँच कर दोगे? यह बुखार से पीड़ित है।" रामचन्द्र अपने बारे में इस अप्रत्याशित उद्घाटन से चकित हो गये, क्योंकि उन्होंने श्रीरामकृष्ण को यह नहीं बतलाया था कि वे चिकित्सक हैं। जो हो, रामचन्द्र ने मरीज की परीक्षा की और बतलाया कि हृदयराम का बुखार मामूली है। श्रीरामकृष्ण ने उसके बाद रामचन्द्र से पूछा, "अच्छा, मैं जो भी खाता हूँ, वह किधर जाता है?" रामचन्द्र ने पेट की ओर इशारा किया। श्रीरामकृष्ण ने अपने पेट के दाहिने निचले भाग को दिखाकर कहा,

"पर मुझमें तो भोजन यहाँ नीचे आ जाता है।" वे लोग यह सुनकर चकित हुए, पर उसकी सत्यता पर विश्वास न कर सके। जो हो, बाद में रामचन्द्र ने भौतिक जाँच से पुष्टि कर ली कि श्रीरामकृष्ण ठीक ही कह रहे थे कि भोजन या पेय सीधा उनके पेट के दाहिने ओर नीचे चला जाता है।[५]

थोड़ी देर पश्चात् उनमें से एक ने पूछा, "क्या सच में ईश्वर है? यदि ऐसा है, तो क्या उसे देखा जा सकता है? और यदि वह दिखायी पड़ सकता है, तो क्या इसी जन्म में उसके दर्शन हो सकते हैं?"

तब मधुर शब्दों का एक प्रवाह उमड़ आया—"ईश्वर सच में हैं। तुम लोग दिन में तारे नहीं देखते, परन्तु उसका यह अर्थ तो नहीं कि वे नहीं हैं। देखो, दूध में मक्खन है; पर क्या कोई सिर्फ देखनें मात्र से उसे ढूंढ़ सकता है? मक्खन पाने के लिए दूध को सूर्योदय के पहले शान्त और ठण्डे स्थान में मथना पड़ेगा। यदि तुम तालाब में मछली पकड़ना चाहते हो, तो पहले जिन्होंने उसमें मछलियाँ पकड़ी हैं उनसे यह जान लेना होगा कि किस प्रकार की मछलियाँ उसमें उपलब्ध हैं और कौनसी बंसी उपयोग में लानी होगी। इसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में तुमको पूछताछ करना चाहिए। तालाब में बंसी से मछली पकड़नेवाले

५. 'भक्त मनमोहन,' पृ. २९।

को धैर्यपूर्वक लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक कि डोर में कोई हलचल नहीं पैदा होती। यह हलचल उसे बता देती है कि तालाब में मछली है। धीरे धीरे जब चारा नीचे पानी में डूब जाता है, तब वह एक झटके में मछली को ऊपर जमीन पर खींच लेता है। उसी प्रकार सिर्फ इच्छामात्र से तुम ईश्वर को नहीं देख सकते; तुम्हें कुछ मानसिक अनुशासन के बीच से गुजरना पड़ेगा। साधु के वचनों में विश्वास रख तुम्हें अपना मन मछली पकड़नेवाले काँटे की भाँति स्थिर रखना होगा। उसमें प्राणरूपी फन्दा बनाओ और उस फन्दे में ईश्वर की भक्तिरूपी चारे को बाँधकर तब तक बैठे प्रतीक्षा करो, जब तक ईश्वर का चिन्तन तुम्हारे चित्तरूपी सरोवर में हलचल नहीं उत्पन्न करता। तब ईश्वर के दर्शन पाकर तुम धन्य हो जाओगे।"[६]

रामचन्द्र पक्के अनीश्वरवादी थे। मनमोहन यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व में पूरा विश्वास रखते थे, पर उनकी यह धारणा थी कि उसका कोई आकार नहीं हो सकता। इस प्रकार के तर्क उन्होंने ब्राह्म नेताओं से सुने थे। उन लोगों के मनोभाव भाँपकर श्रीरामकृष्ण ने कहा, "कौन वास्तव में

६. रामचन्द्र दत्त: 'श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवन-वृत्तान्त' (बँगला), श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता–५४ ७ वाँ संस्करण, पृ. १२०।

ईश्वर को चाहता है--कौन उन्हें जानना चाहता है ? सभी इसी धारणा को लेकर चल रहे हैं कि उन्हें समझा नहीं जा सकता। यदि कोई ईश्वर के लिए व्याकुल होकर रोता है और रो-रोकर प्रार्थना करता है, 'प्रभो, कृपा करके अपने दर्शन से मुझको कृतार्थ करो', तो ईश्वर निश्चित ही उसके सामने प्रकट हो जाएँगे। क्या ईश्वर, जिनकी महिमा इतनी मनमोहक है, अदर्शनीय हो सकते हैं ? चाहे कोई इसकी सत्यता की परख कर सकता है। यदि ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते, तो सारे शास्त्र अपना महत्त्व खो देंगे। क्या तुम कह सकते हो कि शास्त्रों की सब बातें कपोल-कल्पना हैं और कलियुग के लोगों को ठगने के लिए उपन्यासों और नाटकों की भाँति गढ़ी गयी हैं ?"[७] मनमोहन ने सुझाया, "माना कि आप जो कहते हैं वह सच है, पर क्या ईश्वर का साक्षात्कार इसी जन्म में किया जा सकता है ?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "मनुष्य की प्रेमभावना जैसी होगी, वैसी ही उसकी उपलब्धि होगी। विश्वास ही सबका मूल है।" ऐसा कह वे अपने सुमधुर कण्ठ से गाने लगे--

जैसा होगा ध्यान मनुज का,
　　　　प्रेम-भावना होगी वैसी।
जैसी होगी प्रेम-भावना,

---

७ 'वक्तृतावली', पृ.. ३९-४० ।

प्राप्ति मनुज की होगी वैसी ।।
पर विश्वास मूल है सबका ।
यदि काली के अमिय चरण-सर
में मन पा जाये विश्राम ।
पूजा उपासना यज्ञादिक
आहुतियों का फिर क्या काम ।।

श्रीरामकृष्ण ने आगे कहा, "जितना ही कोई एक दिशा में आगे बढ़ता है, उतना ही वह विपरीत दिशा से दूर होता जाता है। मतलब यदि तुम पूर्व की ओर दस कदम बढ़ाते हो, तो पहलावाला स्थान पश्चिम की ओर उतना ही पीछे छूट जाता है।"

पर उन लोगों ने अपना तर्क नहीं छोड़ा, कहने लगे, "जब तक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष सबूत नहीं मिल जाता, हम लोगों के अविश्वासी मन में ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं जम सकता।"

श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा, "एक टायफाइड का मरीज घड़ाभर पानी पी जाना और गंजभर भात खा जाना चाहता है, पर क्या चिकित्सक उसकी बातों पर कोई ध्यान देता है? क्या बुखार के एकदम बढ़ते ही चिकित्सक कुनैन लेने के लिए कहता है? वह मरीज की दशा परखता है और जब देखता है कि बुखार एक-सा है, तब

ठीक समय पर कुनैन लेने के लिए कहता है। वह मरीज की बातों पर ध्यान नहीं देता।"[८]

श्रीरामकृष्ण की सरल किन्तु विश्वास उपजानेवाली बातों ने उन लोगों के हृदय को छू लिया। उनकी मधुर आवाज उन लोगों के अन्तःकरण में गहरी भिद गयी। वास्तव में उनकी बातें उन लोगों के अन्तःकरण में गूंजने लगी थीं। श्रीरामकृष्ण ने विचार के उन अमूर्त स्फुरणों को वाणी और रूप प्रदान किया था, जो अभी तक उनकी पकड़ से बाहर थे। इससे पूर्व उन्होंने कभी भी ऐसा विश्वास जमा देनेवाला उपदेश नहीं सुना था। श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों को इतनी आत्मीयता से स्वीकार किया था कि उन्हें लगने लगा था जैसे वे लम्बे समय से उनसे परिचित हैं और उनके अपने ही हैं। दिनभर उनके सान्निध्य में बिताकर तीनों मित्र सन्ध्या से पहले दक्षिणेश्वर से लौटे।

इस भेंट ने रामचन्द्र और मनमोहन के जीवन में एक नया अध्याय जोड़ दिया। श्रीरामकृष्ण की प्रेरणा ने प्रवाहित हो उनके जीवन को पूरी तरह अभिभूत कर लिया और इस प्रवाह में उनके बीते समय की कटुस्मृतियाँ धुल गयीं। रामचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' में और मनमोहन ने अपनी अधूरी पुस्तक 'आमार

८. 'जीवन वृत्तान्त', पृ. १२१।

जीवनकथा' में बतलाया है कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने के बाद उनके जीवन में क्रमशः एक महान् क्रान्ति उपस्थित हुई।

अपने जीवन के इस आमूल परिवर्तन का वर्णन करते हुए राम लिखते हैं—"जब हम ईश्वर की खोज में इधर उधर भटक रहे थे—कभी ब्राह्म समाज के प्रार्थना-मन्दिरों में जाते, कभी ईसाइयों के चर्च में, तो कभी हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिरों में—तब किसी ने हमारी ओर नजर तक न उठायी, कोई हमारी सहायता को नहीं आया। बल्कि हम लोग दिन पर दिन मानो अधिक गहरी निराशा के दलदल में फँसते जा रहे थे। जो हो, हमें ज्यादा नहीं भुगतना पड़ा। जिस दिन श्रीरामकृष्ण से हमारी भेंट हुई, हमें एक नया जीवन मिला। जिस क्षण उनके दर्शन मिले, हमारे हृदय की तड़पन, बीते दिनों की निराशा एकदम मिट गयी...। हम जो नास्तिक थे, उनकी कृपा से कट्टर आस्तिक बन गये...। हम लोगों का यह पूरा विश्वास है कि श्रीरामकृष्ण हमारे मसीहा हैं; इसलिए हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वे साक्षात् सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही हैं।"[१] पहले श्रीरामकृष्ण को गुरु के रूप में और बाद में अपने इष्ट देवता के रूप में स्वीकार करते हुए रामचन्द्र उन्हें और उनके भक्तों को सिमला स्थित अपने

१. 'तत्त्वमंजरी', खण्ड २, पृ. ८४-५।

मकान में बारम्बार आमंत्रित करते और दिल खोलकर भक्तों के सत्कार में खर्च करते। अपने शिष्य के इस परिवर्तन पर विनोद करते हुए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "राम को अब इतना मुक्तहस्त देखते हो; जब पहले आया था, तब वह इतना अधिक कृपण था कि मेरे इलायची लाने के लिए कहने पर उसने एक दिन एक पैसे की सूखी इलायची लाकर मेरे सामने रख दी। इसी से राम के स्वभाव में कितना परिवर्तन हो गया है, तुम समझ सकते हो।"[१०]

श्रीरामकृष्ण की दैवी कृपा ने राम में भक्ति की दिव्य ज्वाला प्रज्वलित कर दी। उसने उनकी सभी मलिनता को जला दिया और तब उनके भीतर सुवर्ण दमक उठा। ठाकुरजी की चेतना का उनके भीतर प्रवेश और उसकी क्रिया दिखलायी नहीं देने पर भी उसका प्रभाव उल्लेखनीय था। उसने उनका पूरा अस्तित्व, उनकी वाणी तथा दूसरों पर पड़नेवाला उनका प्रभाव सभी कुछ बदल दिया। वह इतना स्पष्ट परिवर्तन था कि भक्तों को कोई आश्चर्य नहीं हुआ, जब ठाकुर ने कहा, "माँ से आज मैं कह रहा था--विजय, गिरीश, केदार, राम, मास्टर (महेन्द्रनाथ गुप्त) इन्हें थोड़ी शक्ति दे दे,

१०. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', प्रथम सं., तृतीय भाग, पृ. ४४.

जिससे कोई नया आदमी आये तो इनसे कुछ तैयार होकर मेरे पास आये।"[११] ठाकुर के उपदेशों के प्रसार के लिए राम एक माध्यम के रूप में चुन लिये गये थे। अपने नये खरीदे उद्यान-भवन में, जिसका उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण योगोद्यान' नाम रखा था, वे एक ओर आध्यात्मिक साधनाओं की गहराइयों में डूबने लगे और दूसरी ओर बँगला मासिक पत्रिका 'तत्त्वमंजरी', 'तत्त्वसार' (१८८५) एवं 'तत्त्व प्रकाशिका' (तीन खण्डों में, जून १८८६ से जुलाई १८८७) जैसी पुस्तकों तथा संकीर्तन, व्याख्यानों एवं प्रवचनों के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव के सन्देश का प्रचार करने लगे। वे उन लोगों में से एक थे, जिनकी धारणा थी कि श्रीरामकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। एक दिन गिरीशचन्द्र घोष से उन्होंने कहा था, "क्या तुम अनुभव करते हो कि इस बार गौरांग, नित्यानन्द और अद्वैत तीनों परमहंसदेव के रूप में फिर से आये हैं? प्रेम, भक्ति और ज्ञान के वे समन्वयस्वरूप हैं। जब ईश्वर गौरांग के रूप में अवतरित हुए थे, तब ये गुण तीन लोगों में अलग अलग प्रकट हुए थे।"[१२]

इसी प्रकार का परिवर्तन मनमोहन में भी

११. वही, पृ. २१४।
१२. गिरीशचन्द्र घोष कृत 'रामदादा', 'तत्त्वमंजरी', वर्ष ८, अंक ९, पृ. २०३।

दिखायी पड़ा था। यद्यपि पहले उनका अहंभाव मार्ग में रोड़ा बनकर खड़ा था, पर श्रीरामकृष्ण की दैवी कृपा ने उसे धीरे धीरे तोड़ दिया और क्रमशः मनमोहन में उल्लेखनीय भक्ति का प्रवाह दिखने लगा। १९ नवम्बर, १८८२ को मनमोहन के मकान पर इसकी चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "जो असहाय, दीन, दरिद्र हैं, उनकी भक्ति ईश्वर को प्यारी है, जिस प्रकार खली मिला हुआ चारा गाय को प्यारा है। दुर्योधन उतना धन, उतना ऐश्वर्य दिखाने लगा, पर उसके घर पर भगवान् न गये। वे विदुर के घर गये। वे भक्तवत्सल हैं। जिस प्रकार गाय अपने बच्चे के पीछे पीछे दौड़ती है, उसी प्रकार वे भी भक्तों के पीछे पीछे दौड़ते हैं।"[१३]

मनमोहन इतने निष्ठावान् और विश्वासी भक्त थे कि लोग अक्सर उनके मुख से सुनते, 'मैं वह कुछ सुनना नहीं चाहता, जो 'रामकृष्ण व्याकरण' में नहीं है।"[१४]

श्रीरामकृष्णदेव को पूरी तरह से गुरु मान लेने से मनमोहन में आमूल परिवर्तन आ गया। जीवन का अर्थ अब उनके लिए कष्टों से उदासीन रहना

---

१३. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' तृतीय, सं., प्रथम भाग, पृ. १५९।

१४. विजयनाथ मजुमदार कृत 'महात्मा मनमोहन मित्र', 'तत्त्वमंजरी', वर्ष ९, अंक ६, पृ. १३४।

न था, वरन् हर परिस्थिति में शान्त और सम बने रहना था। उनका जीवन उस अंकुरित होनेवाले बीज के समान था, जो एक ओर अपनी जड़ें जमीन में नीचे भेजता है, जिससे वह मजबूती से खड़ा रह सके और दूसरी ओर अपनी कोंपल ऊपर भेजता है, जिससे वह पौधा बनकर भक्तों को आनन्दित करने के लिए फूलों को खिला सके।

●

सेष सहस्र सीस जग कारन

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण चरित्र' पर ४ से ११ अप्रैल, १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का पाँचवाँ प्रवचन है।

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी है।—स०)

श्री लक्ष्मण के चरित्र की विलक्षणता यह है कि भगवान् राम के सन्दर्भ में जहाँ अन्य पात्रों की भूमिका किसी विशेष प्रसंग में समाप्त हो जाती है, वहाँ श्री लक्ष्मण भगवान् राम से हर प्रसंग में जुड़े हुए हैं और अलग अलग प्रसंग में उनकी भूमिका भी अलग अलग हो जाती है। हम श्रृंगार-रस में श्री लक्ष्मण की भूमिका पर विचार कर रहे थे। श्रृंगार-रस सम्बन्धी जो मान्यता है, उसका अभिव्यक्त रूप हमें पुष्पवाटिका-प्रसंग में प्राप्त होता है। श्रृंगार-रस के प्रसंग में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि व्यक्ति अकेला होगा, तो उस रस की समग्रता नहीं होगी, क्योंकि श्रृंगार-रस की समग्रता के लिए द्वितीय की अपेक्षा होती है। फिर, यदि दो के स्थान पर तीन व्यक्ति हो जायँ, तो भी श्रृंगार-रस का परि-

पाक नहीं हो सकता। गोस्वामीजो एक विचित्र प्रकार का शृंगार प्रस्तुत करते हैं। यह सही है कि भगवान् राम अकेले नहीं हैं। यदि श्री सीताजी और भगवान् राम की उपस्थिति में शृंगार-रस की अभिव्यक्ति कर दी जाय, तो ऐसी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही होगी, पर जब भगवान् राम के साथ श्री लक्ष्मण हों, तब शृंगार-रस का समग्र अवतरण सम्भव है क्या, यह प्रश्न है। भगवान् राम बड़े भाई हैं और लक्ष्मण छोटे। क्या शृंगार-रस में छोटे भाई की कोई भूमिका हो सकती है ? वैसे देखा जाय तो सामान्यत: अन्त:करण में उदित होनेवाला शृंगार न तो अपने से छोटे के समक्ष प्रकट किया जाता है और न अपने से बड़े के समक्ष। लेकिन गोस्वामोजो ऐसी दोनों स्थितियों को अमान्य कर देते हैं।

पुष्पवाटिका-प्रसंग का समापन वहाँ होता है, जहाँ भगवान् राम महर्षि विश्वामित्र से अपने अन्तर्मन की स्थिति का उल्लेख करते हैं। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक है पुष्पवाटिका में श्री लक्ष्मण का साथ रहना और भगवान् श्री राघवेन्द्र का उनके समक्ष अपने मन की प्रत्येक दशा का वर्णन करना। अब हमें यह विचार करना है कि पुष्पवाटिका-प्रसंग के माध्यम से गोस्वामीजो कौनसा दार्शनिक, भावनात्मक अथवा चरित्र-सम्बन्धी तत्त्व देना चाहते हैं। आप देखेंगे कि उस प्रसंग का प्रारम्भ मर्यादा द्वारा

होता है, मर्यादा के सम्पुट में गोस्वामीजी का प्रेमरत्न सुशोभित है। वास्तव में, भगवान् राम पुष्पवाटिका में श्री सीताजी के सौन्दर्य को देखने नहीं आये हैं, वे तो गुरुदेव के पूजन के लिए पुष्प लेने हेतु लक्ष्मण को साथ लेकर आये हैं। उसी प्रकार सीताजी भी भगवान् राम को खोजने नहीं आयी हैं, वे तो पार्वतीजी का पूजन करने आयी हुई हैं। तो, भगवान् राम वाटिका में आकर मालियों से आज्ञा ले पुष्प-चयन कर रहे हैं और श्री सीताजी अपनी सखियों के साथ आ पार्वतीजी का पूजन कर रही हैं। इसी के मध्य गोस्वामीजी श्रृंगार-रस के प्रसंग की अवतारणा करते हैं. पर इसके साथ ही वे अपने दर्शन को अभिव्यक्त करना नहीं भूलते। वे कहते हैं कि जब सीताजी पूजन कर रही होती हैं, तब उनकी सखियों में से एक वाटिका में घूमती चली आती है और वहाँ श्री राघवेन्द्र को देख उस दिव्य सौन्दर्य से अपने अन्तः-करण में एक दिव्य अनुराग का अनुभव करती है। वह किशोरीजी के पास आकर अपने अन्तःकरण के भावों को प्रकट करती है। उससे श्री राम के सौन्दर्य का वर्णन सुन सीताजी के अन्तःकरण में पुनीत प्रीति की स्फुरणा होती है——

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥
१/२२९

जिस सखी ने श्री राम को देखा है, उसे आगे कर लिया जाता है और सीताजी उसके पीछे हैं। अन्य सखियाँ श्री सीताजी के पीछे हैं। इस प्रकार सखियों से परिवेष्टित हो जब सीताजी श्री राम से मिलने जाती हैं, तो गोस्वामीजी लिखते हैं--

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई ॥ १/२२८/८

अब, 'उपजी प्रीति पुनीत' और 'प्रीति पुरातन लखइ न कोई' ये दोनों परस्पर-विरोधी वाक्य हैं। श्री राम के दर्शन से पूर्व ही सीताजी के अन्तःकरण में अनुराग उत्पन्न हुआ, इसलिए 'उपजी प्रीति पुनीत' की बात तो समझ में आती है, पर इस प्रीति को पुरातन कहने का क्या तात्पर्य? यही कि गोस्वामीजी भाव की रक्षा के साथ साथ दर्शन की भी रक्षा करना चाहते हैं। भाव की, लीला की दृष्टि से 'उपजी प्रीति पुनीत' कहना सार्थक हो सकता है, पर तत्त्व की, दर्शन की दृष्टि से 'प्रीति पुरातन' कहना ही अधिक सार्थक होगा। भावनात्मक दृष्टि से इस पर विचार करें, तो इसका तात्पर्य यह है कि पुरातनता में एक विशेषता है और साथ ही एक कमी भी, और उसी प्रकार नूतनता में भी एक विशेषता है और साथ ही एक कमी भी। जो वस्तु पुरानी हो जाती है, उसकी विशेषता यह है कि उसकी परख हो चुकी होती है, उसमें स्थायित्व होता है, पर उसकी कमी यह है कि

उसमें रसानुभूति नहीं होती। जिस वस्तु को आप नित्य देखें, जिसका नित्य सेवन करें, उसे आप पुरानी और प्रामाणिक तो कह सकते हैं, पर उसमें रस की अनुभूति नहीं होती। इधर नवीनता में रस की अनुभूति तो होती है, पर उसे अभी प्रामाणिकता की, समय की कसौटी पर कसा नहीं गया है। तब फिर प्रीति को पुरातन माना जाय या नूतन? यदि उसे पुरातन मानेंगे, तो उसमें प्रामाणिकता होगी और यदि नूतन मानेंगे, तो रसानुभूति होगी। इसीलिए गोस्वामीजी ऐसे प्रीति-रस की कल्पना करते हैं, जिसमें पुरातनता और नवीनता एक साथ हैं। जो चिर पुरातन होते हुए भी नित्य नूतन प्रतीत हो, वही भक्ति का रस है। तो, पुष्पवाटिका के प्रसग में गोस्वामीजी शृंगार-रस के साथ भक्ति-रस का भी दर्शन कराते हैं।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया--जब सीताजी भगवान् राम को पुरातन काल से देख रही हैं, तो क्या वे देखते देखते ऊब नहीं गयी हैं? किसी वस्तु को आप नया नया देखें, तो वह आकर्षक लगती है, पर यदि कुछ दिन आप उसे देखते रहें, तो आकर्षण समाप्त हो सकता है। फिर और कुछ दिन के बाद तो वितृष्णा भी हो सकती है। उत्तर में गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वाभाविक नियम तो यही है कि जब प्यास लगी हुई है, तो जल प्रिय लगेगा और जैसे

जैसे प्यास मिटती जायगी, वैसे वैसे जल की आवश्यकता का अभाव होने लगेगा, और कहीं अधिक जल पी लें, तो जल से अरुचि भी हो जायगी। पर यहाँ पर जल का दृष्टान्त पूरी तरह सार्थक नहीं होगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि एक मनुष्य के सम्बन्ध में तो यह दृष्टान्त पूरी तरह सार्थक हो सकता है कि उसकी प्यास बुझ जाये, तो उसे जल की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी, पर यदि कोई मछली से पूछे कि ऐ मछली, तू तो बरसों से जल में है, तेरी प्यास बुझी या नहीं, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है? ऐसी दशा में उत्तर तो यही होगा कि अनादि काल से जल में रहने पर भी मछली को जल से अरुचि का प्रश्न ही कहाँ है, क्योंकि जल से अलग होते ही उसकी सत्ता समाप्त हो जायगी। इसीलिए गोस्वामीजी भगवान् राम और श्री सीता के सन्दर्भ में मछली की उपमा देते हैं, कहते हैं—

पुनि पुनि रामहि चितव सिय
सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छबि
प्रेम पिआसे नैन ॥ १/३२६

—सीताजी के नेत्रों को मछली छोड़कर और क्या कहें, जो अनादि काल से श्रीराम का सौन्दर्य देखते रहने के पश्चात् भी तृप्ति का बोध नहीं करते, बल्कि निरन्तर अतृप्त बने रहते हैं।

ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी ने सीताजी के अन्तः-करण में जिस प्रीति-रस के उदय की चर्चा की है, वह एक साथ पुरातन और नूतन दोनों है। पूछा गया कि यह प्रीति-रस मिलन का रस है या विरह का ?

वृन्दावन में एक श्री हरिवंश-सम्प्रदाय है। उसमें सारस और चकवा का संवाद बड़ा प्रचलित है। चकवा के विषय में प्रसिद्धि है कि रात्रि के समय चकई से उसका वियोग हो जाता है और दोनों एक दूसरे के लिए विलाप करते रहते हैं। सारस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यदि उसके जोड़े में से एक की मृत्यु हो जाय, तो दूसरा भी अपने प्राणों का परित्याग कर देता है। एक दिन सारस और चकवा कहीं मिल गये। दोनों में विवाद छिड़ गया कि किसकी स्थिति सही है। सारस ने चकवे को फटकारते हुए कहा, "यह रातभर क्या चिल्लाया करते हो !" चकवा बोला, "तो क्या अपनी प्रियतमा के वियोग में भी न चिल्लाएँ ?" सारस तिरस्कार करता हुआ बोला, "यह तो तुम प्रेम का विज्ञापन करते हो। यदि सचमुच तुम्हारी प्रीति होती, तो वियोग में तुम्हारी मृत्यु हो जाती। यह चीखना-चिल्लाना बेकार है। जब तुम वियोग में भी जीवित बने रहते हो, तब तुम्हारी प्रीति सार्थक नहीं है !" उत्तर में चकवे ने कहा, "तुमने

केवल मिलन को ही जाना है, वियोग में कभी प्रेम की परीक्षा लेने का तुमने अवसर ही नहीं दिया है, इसलिए तुम क्या जानो कि वियोग की स्थिति में किस पीड़ा का अनुभव होता है ? तुम तो केवल मिलन-सुख के प्रेमी हो, वियोग की स्थिति में प्राणों का परित्याग करके तुम कायरता का ही परिचय देते हो, तुम सच्चे प्रेमी नहीं हो !"

तो, भक्त का प्रेम कैसा होना चाहिए ?––सारस-जैसा या चकवा-जैसा ? श्री हरिवंश स्वामीजी एक बड़ी सुन्दर बात कहते हैं––

हित हरिबंस बिचार मिलन बिरहा बिरुआ रस ।
निकट कंत नित रहत मरम कहँ जानै सारस ।।

––भक्ति का रस न तो मिलन-रस है और न विरह-रस, वह तो मिलन-बिरहा रस है, जहाँ संयोग में भी निरन्तर वियोग की अनुभूति बनी रहती है और वियोग में निरन्तर संयोग की ।

श्री राधारानी श्रीकृष्ण का सौन्दर्य देख रही हैं, उन दोनों का मिलन हुआ है । पर यदि पूर्ण मिलन की अनुभूति हो जाय, तो अरुचि हो जायगी, इसलिए उस मिलन में भी राधारानी वियोग की अनुभूति कर रही हैं––

राधेहि मिलेहिं प्रतीत न आवत ।

––मिलन तो हुआ है, पर राधा को प्रतीति नहीं हो रही है । क्या वे देख नहीं पा रही हैं ?––

जदपि नाथ बिधु बदन बिलोकत,
दरसन को सुख पावत।
भरि भरि लोचन रूप परम निधि,
हिय महँ आनि दुरावत।।

जब नेत्र भरकर वे देख रही हैं, तब वियोग का भला प्रश्न कैसा ? वास्तव में उन्हें अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हो रहा है, उन्हें लगता है कि कहीं वे सपना तो नहीं देख रही हैं ?—

सपनेहुँ आहि कि आहि सत्य यह
बुद्धि बितर्क बढ़ावत।

इससे भी विकट स्थिति राधारानी की तब हो गयी, जब——

कबहुँक करत बिचार कौन हौ,
को यह, केहि यह भावत।

सुननेवाले ने कहा——यह व्यर्थ की बात है, सरासर पागलपन है। ऐसा भी कहीं होता है ? सूरदास ने इस पर कहा——

सूर प्रेम की बात अटपटी
मन तरंग उपजावत।।

——प्रेम की स्थिति ऐसी अटपटी होती है, इसमें इतनी तरंगें उठती हैं कि इसे गणित के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उस समय कौनसी लहर किधर उठेगी, वायु का झोंका किस लहर को किधर ले जायगा, इसे कौन बताये ?

तो, जिस मिलन में वियोग की अनुभूति बनी रहती है, उसमें अतृप्ति का बोध बना रहता है, इसलिए तृप्तिजन्य अरुचि का बोध वहाँ पर नहीं होता। दूसरी ओर, जहाँ नित्य वियोग की, शुद्ध वियोग की अनुभूति हो जाय, वहाँ प्राणों का परित्याग हो जायगा। गोस्वामीजी 'गीतावली रामायण' में वात्सल्य-रस का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं--

श्री राम वन चले गये। कौसल्या अम्बा प्रातःकाल सोकर उठीं, तो श्री राम जिस कक्ष में सोया करते थे, उसके द्वार पर खड़ी हो गयीं और पुकारकर श्री राम को जगाने लगीं--राम, उठो बेटा, उठो, तुम अभी तक सो रहे हो! देखो, भरत, लखन, शत्रुघ्न और तुम्हारे सारे मित्र द्वार पर खड़े हो नाम लेकर तुम्हें पुकार रहे हैं! इधर भगवान् राम तो वन जा चुके हैं, पर कौसल्या अम्बा की मनःस्थिति ऐसी है कि उन्हें भरत, लखनलाल और शत्रुघ्न का स्वर सुनायी देता है, मित्रों का स्वर सुनायी पड़ रहा है, उन्हें ऐसा लगता है कि राम अभी तक सोकर नहीं उठे हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

कबहूँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति
　　कहि प्रिय बचन सवारे।
उठहु तात! बलि मातु बदनपर,
　　अनुज-सखा सब द्वारे॥ (अयोध्याकाण्ड, ५२)

सखियों और सेविकाओं ने सुना, तो वे दौड़ी हुई आयीं और कौसल्याजी का हाथ पकड़कर समझाने लगीं—माँ, क्या आप भूल गयीं कि इस समय तो राघवेन्द्र वन में हैं, आप किसे पुकार रही हैं, किसे जगा रही हैं ? कौसल्या अम्बा ने एक बड़ी भावमयी बात कही—तुम्हारी बात को अस्वीकार करने का जी नहीं चाहता, पर अपनी आँखों के सत्य को कैसे झुठला दुँ ?—

लगेइ रहत मेरे नैननि आगे
राम-लषन अरु सीता। (अ० का०,५३)

—जब मैं आँख उठाकर देखती हूँ, तो मेरे समक्ष राम, लक्ष्मण और सीता दिखायी देते हैं। तो क्या आँखों से दिखायी देनेवाले सत्य को मैं अस्वीकार कर दूँ ? तुम जब कहती हो कि वे वन चले गये हैं, तो तुम भी भला झूठ क्यों बोलोगी ? मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि सत्य क्या है। होना तो यह था कि—

दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत

पर राम के दिखायी देते हुए भी—

तदपि न मिटत दाह या उर को

—मेरे हृदय का दाह मिट नहीं रहा है। पर यदि दूसरी ओर राम का दिखायी देना बन्द हो जाय, तब तो—"तनु न रहै बिनु देखे"—प्राण ही न रहेंगे। प्राण इसीलिए बने हुए हैं, सखी, कि—

करत न प्रान पयान, सुनहु सखि !
अरुझि परी यहि लेखे। (अ०का०, ५३)

—वे निर्णय नहीं कर पाये हैं कि राम चले गये हैं अथवा यहीं साथ में हैं !

तो, यह जो संयोग में वियोग की अनुभूति है, वह भक्त को निरन्तर व्याकुल बनाये रखती है और वियोग में संयोग की अनुभूति उसे प्राण त्यागने से रोकती है तथा निरन्तर सामीप्य का बोध कराती रहती है। अतः यह जो दिव्य प्रीति-रस है, वह सांसारिक मिलन या विरह के समान नहीं है। संसार की भाषा में हम संयोग या वियोग की प्रीति को जिस अर्थ में समझते हैं, दिव्य रस की अनुभूति उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की है। पुष्पवाटिका में तो इस दिव्य रस की भी पराकाष्ठा है, कारण, गोस्वामीजी के शब्दों में, श्री सीता और श्री राम वस्तुतः दो व्यक्ति नहीं हैं, जिनमें सम्बन्ध की कल्पना की जाय, वे तो दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। यदि किसी साधारण व्यक्ति से पूछ दिया जाय कि भगवान् राम का सीताजी से क्या नाता है, तो वह उत्तर देगा--पति-पत्नी का। एक साधारण व्यक्ति के लिए उक्त प्रश्न का उत्तर देना जितना सरल है, उतना एक भावुक या तत्त्वज्ञ व्यक्ति के लिए नहीं। 'रामचरितमानस' में आता है--वनपथ में जाते हुए श्री सीताजी से गाँव की स्त्रियों ने पूछ दिया कि ये साँवले और गोरे वर्ण के राजकुमार आपके कौन हैं ? और इस सरल प्रश्न का उत्तर देने में घण्टों लग गये। मैथिलीशरणजी ने तो दो

वाक्यों में उत्तर दिला दिया, कहा दिया कि ये गौर वर्णवाले हमारे देवर हैं और श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं। बड़ा शिष्ट भाषा में परिचय हो गया। पर यहाँ तो गोस्वामीजी की सीता बड़ी समस्या में हैं—

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥ २।११६।३

—सीताजी कभी गाँव की स्त्रियों की ओर देखती हैं, तो कभी पृथ्वी की ओर। परिचय ही नहीं दे पा रही हैं। गाँव की स्त्रियों ने कहा था कि गँवार लोग ही ऐसी भाषा में प्रश्न करते हैं, हम जानती हैं यह अशिष्टता है, पर—

बिलगु न मानब जानि गवाँरी। २।११५।७

—हमें गँवारी जानकर बुरा न मानिएगा, जरा बता दीजिएगा कि ये आपके कौन हैं। सीताजी सोचती हैं—तुम कहती हो कि तुम गँवारी हो,पर जिस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए सबसे कठिन है,वही तुमने पूछ दिया! अभिप्राय यह कि गाँव की स्त्रियों ने जो पूछा कि ये (राम) आपके कौन हैं, इसका उत्तर सीताजी किस प्रकार दें? किसी ने तरंग से पूछ दिया—तुम्हारा जल के साथ क्या नाता है? अब वीचि क्या उत्तर दे? नाता तो अलग अलग व्यक्तियों में होता है। जल और वीचि तो अलग अलग नहीं, इसलिए जो भी नाता उन दोनों के बीच बिठाया जाएगा, वह कल्पित होगा, सत्य नहीं।

आप कल्पना कर लीजिए कि जल से वीचि का जन्म होता है, इसलिए वे दोनों पिता-पुत्री हैं। आप यह कह लीजिए कि जल और वीचि साथ साथ हैं, इसलिए भाई-बहिन हैं। आप कह लीजिए कि जल और वीचि क्रीड़ा कर रहे हैं, इसलिए पति-पत्नी हैं। यह तो आपका कवित्व है, जो जल और वीचि में कोई भी सम्बन्ध आरोपित कर दे। पर वस्तुतः उनमें कोई नाता नहीं होता, वे दोनों तत्त्वतः एक हैं। अतः सीताजी गाँव की स्त्रियों के उस प्रश्न का क्या उत्तर दें, जिसमें उनका श्री राम से सम्बन्ध पूछा गया? उन्होंने एक बढ़िया मार्ग चुना——श्री लक्ष्मण का परिचय तो वाणी से दे दिया, पर भगवान् श्री राम का परिचय देने के लिए संकेत का आश्रय लिया, नेत्रों का सहारा लिया। नेत्रों से परिचय भला क्यों दिया? इसलिए कि भाषा की कठिनाई यह है कि उसका अर्थ निश्चित है, पर संकेत में यह स्वतन्त्रता है कि अर्थ लेनेवाला उसका चाहे जो अर्थ लगा ले सकता है। संकेत का कोई शास्त्र तो है नहीं, जो बताय कि अमुक संकेत का अमुक ही अर्थ होता है। इसलिए सीताजी ने भगवान् राम का परिचय देने के लिए संकेत का आश्रय लिया। और संकेत का आश्रय लेने के साथ उन्होंने एक बात और की,——जब वे परिचय देने लगीं, तो अपने आँचल का घुँघट डाल लिया——

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। २।११६।६

गोस्वामीजी के इस कथन में भावनात्मक दृष्टि से तो शील दिखायी देता है, पर तात्त्विक दृष्टि से वे कुछ अनोखा संकेत देना चाहते हैं। गाँव की स्त्रियाँ पूछती हैं–– आपके ये कौन हैं ? अब परिचय देने के लिए तो आवरण हटाना पड़ेगा। जैसे, हम व्यासपीठ पर आते हैं और रामायण की पोथी खोलते हैं। ग्रन्थ का परिचय पाने के लिए तो आवरण को खोलना पड़ेगा। तब श्री राम का परिचय देने के लिए सीताजी घुँघट क्यों डाल लेती हैं, उन्हें तो घुँघट हटा लेना चाहिए था ? यही गोस्वामीजी का अनोखापन है। सीताजी का अभिप्राय यह है कि अन्यत्र परिचय देना तो घूँघट हटाना है, पर इनसे अपना नाता बतलाने के लिए तो घुँघट डालना ही होगा। जब तक अपने और इनके बीच में एक व्यवधान न बना दूँ, तब तक नाता कहाँ से बताऊँगी ? नाता बताने के लिए हमें एक में दो की सृष्टि करनी पड़ेगी। तो लो, हम उनके और अपने बीच एक परदा डाले लेते हैं, जिससे तुम लोगों को सन्तोष हो जाय कि इन दोनों के बीच भी एक नाता है, एक आवरण है। पर सत्य तो यह है कि हम दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल एकत्व की अनुभूति है, और यह आवरण तो रस की वृद्धि के लिए डाला गया है।

निरावरण का दर्शन निरावृत ज्ञान का पक्ष है। कबीर इसके पक्षधर हैं। वे कहते हैं–– "घूंघट के

पट खोल रे, तोहे राम मिलेंगे"--अर्थात्, घूंघट उठाओगे, तो राम मिलेंगे। पर तुलसीदासजी कहते हैं--"बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी", घूँघट उठाने की आवश्यकता नहीं है, घुँघट डालने की आवश्यकता है, पर हाँ, यह ध्यान रहे की घुँघट एकदम से पूरा न डाल दिया जाय, अन्यथा वह अज्ञान हो जाएगा। घूँघट रहे और दिखायी भी देता रहे--यह गोस्वामीजी का भक्ति का दर्शन है। भक्ति में आवरण तो रहता है, पर इतना नहीं कि हमारे दर्शन में बाधा पड़े। इस मध्य की स्थिति में एक विशेष रस की उत्पत्ति होती है, जब घूँघट की ओट से कोई स्वयं तो देख ले, पर दूसरा न देख सके। यह प्रीति की दृष्टि है, जिसे सीताजी प्रकट करती हैं–

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी ।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । २।११६।६-७

और इसका अर्थ गाँव की स्त्रियाँ समझ लेती हैं--

निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ।।

फलस्वरूप, भईं मुदित सब ग्रामबधूटीं ।
रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं ।।

अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस ।।

और गाँव की स्त्रियों की कामना पूर्ण हो गयी ! उन्होंने श्री राम का परिचय प्राप्त कर लिया।

प्रभु के चरित्र के सम्बन्ध में ससार में सभी तो अज्ञ हैं। लोगों को उनका परिचय भिन्न भिन्न माध्यमों से प्राप्त होता है। कुछ लोग तो लक्ष्मणजी से पूछ लेते हैं कि श्री राम का परिचय बता दीजिए। हनुमान जैसे कुछ अन्य सीधे भगवान् राम से ही पूछ लेते हैं --"को तुम्ह?" (४।०।७) गाँव की स्त्रियों ने सीताजी से पूछकर जान लिया। जनकजी ने विश्वामित्रजी से पूछा--"कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ" (१।२१५।४)। किसी ने वैराग्य के माध्यम से पूछा, किसी ने भक्ति के, तो किसी ने ज्ञान के। जो बुद्धिमान् हैं, वे ज्ञान के माध्यम से पूछते हैं, पर जो भावुक जन हैं, जो अपने में विवेक की विशेषता नहीं मानते, वे भक्ति के आश्रय से भगवान् का परिचय जानना चाहते हैं। उन्हें लगता है कि ज्ञान के माध्यम से भगवान् का जो परिचय होगा, वह रसीला नहीं होगा, किन्तु भक्ति के माध्यम से जो परिचय मिलेगा, उसमें मिठास और रस अधिक होगा। श्री सीताजी ने जैसा परिचय प्रभु का दिया, वैसा रामायण में और किसी ने नहीं दिया। यह जो उनका घूंघट का डालना है और बंकिम दृष्टि से, स्नेहमयी चितवन से श्री राम को देखना है, उससे केवल श्री राम का परिचय ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि उसके द्वारा गोस्वामीजी एक अनोखी दृष्टि की उद्भावना भी करते हैं।

भगवान् राम, सीताजी और लक्ष्मण वृक्ष की

छाया-तले विश्राम कर रहे हैं। क्या गाँव की स्त्रियाँ नहीं जानतीं कि सीताजी का उन दोनों पुरुषों से क्या सम्बन्ध है ? व्यावहारिक दृष्टि से देखने से ही उन्हें पता चल जायगा कि उन तीनों के आपस में क्या सम्बन्ध हैं। भगवान् राम सीताजी के पास हैं और लक्ष्मणजी कुछ दूर हैं। फिर, इनके सम्बन्ध में इतना अधिक प्रचार हो चुका है कि सारी स्त्रियाँ इनके पारस्परिक सम्बन्धों को जानती हैं। तब सीताजी से उनके यह पूछने का क्या तात्पर्य था कि ये दोनों आपके कौन हैं ? गोस्वामीजी जिस अनोखी दृष्टि की उद्भावना करते हैं, वही इस प्रश्न का उत्तर है।

गाँव की स्त्रियाँ जाकर सीताजी के पास बैठ जाती हैं। वे लक्ष्मणजी की ओर देखती हैं, तो पाती हैं कि लक्ष्मणजी की दृष्टि कभी श्री सीताजी के चरणों पर है, तो कभी भगवान् राम के चरणों पर। गोस्वामीजी लिखते हैं---

छिनु छिनु लखि सिय राम पद
जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु
बंधु मातु पितु गेहु ॥ २।१३९

तब गाँव की स्त्रियों ने भगवान् राम की ओर देखा और पाया कि वे बार बार सीताजी की ओर देख रहे हैं। 'कवितावली रामायण' में (अयोध्याकाण्ड, २१) गोस्वामीजी लिखते हैं---

सीस जटा, उर-बाहु बिसाल,
बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौंहैं ।
तून सरासन-बान धरें तुलसी
बन-मारग में सुठि सोहैं ॥

सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों . . .

अब ये ग्राम-वधूटियाँ यह तो देख पा रही हैं कि लक्ष्मणजी क्षण क्षण में भगवान् राम और सीताजी के चरणों की ओर देख रहे हैं और यह भी कि भगवान् राम बार बार श्री सीताजी की ओर अपनी दृष्टि फेरते हैं, पर जब वे सीताजी की ओर देखती हैं, तो पाती हैं कि वे संकोच के कारण पृथ्वी की ओर देख रही हैं । सबके सामने वे कैसे श्री राम की ओर देखें ! गाँव की स्त्रियों को लगता है कि इन दोनों का देखना तो हमने देख लिया, पर सीताजी इन दोनों की ओर कैसे देखती हैं, यह देखने को नहीं मिला । वे विचार करती हैं, यदि हम सीताजी से इन दोनों का परिचय पूछें, तो स्वाभाविक ही वे आँखें उठाकर उनकी ओर देखेंगी और इस प्रकार उनकी दृष्टि का भी परिचय मिल जायगा । वैराग्य की दृष्टि तो देख ली, ज्ञान की भी दृष्टि देख ली, अब जरा भक्ति की भी तो दृष्टि देखें । ये भक्त अपने रस को छिपाकर रखते हैं । भक्ति का स्वभाव गोपन का है, अतः गाँव की स्त्रियाँ चाहती हैं कि जरा भक्ति की दृष्टि का भी आनन्द ले लें । और सचमुच किशोरीजी ने मानो उन लोगों

की भावना की परितृप्ति के लिए ही प्रभु का परिचय नेत्रों से दिया। ग्राम-वधूटियाँ निहाल हो जाती हैं। गोस्वामीजी कहते हैं--"रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं" (२।११६।८) --जैसे दरिद्रों ने किसी धनी का खजाना लूट लिया हो। ग्राम-वधूटियों के प्रश्न के माध्यम से गोस्वामीजी भक्ति की इसी अनोखी दृष्टि की उद्भावना करते हैं।

तो, श्री सीताजी अपनी इसी दृष्टि को लेकर पुष्पवाटिका के प्रसंग में श्री राम को देखने जाती हैं। और जब वे भगवान् राम के सौन्दर्य को देखती हैं, तो --

हरषे जनु निज निधि पहिचाने। १।२३१।४

--उनके नेत्र उसी तरह प्रसन्न हो जाते हैं, जैसे कोई अपने निजी खजाने को, निजी निधि को पहचानकर होता है। गोस्वामीजी ने भगवान् राम के लिए 'निधि' की उपमा बार बार दी है। जैसे, जब विश्वामित्र महाराज दशरथ से दोनों पुत्रों को माँग-कर पाते हैं, तो "बिस्वामित्र महानिधि पाई" (१। २०८।३)। जब भगवान् राम जनकपुर देखने जाते हैं तो गोस्वामीजी वहाँ पर भी लिखते हैं कि जनकपुर-वासी स्त्री-पुरुष इतने उत्साह से दौड़े, मानो दरिद्र को कहीं का खजाना लूटने मिल गया हो--

धाए धाम काम सब त्यागी।
मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥ १।२१९।२

और जब श्री सीताजी भगवान् राम को देखती हैं, तब भी 'निधि' की उपमा दी गयी, पर यहाँ पर एक शब्द और जोड़ दिया गया। विश्वामित्रजी के लिए तथा जनकपुरवासियों के लिए तो 'निधि' कहा, पर सीताजी के लिए कहा--'निज निधि', अपना खजाना। गोस्वामीजी की शब्द-रचना की सार्थकता तो देखिए। दूसरे का खजाना मिल जाय, तो व्यक्ति लूटता फिरेगा--"मनहुँ रंक निधि लूटन लागी", पर यदि अपना खजाना मिल जाय तो--

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥ १।२३१।७

--तुरत कमरे में ताला लगा देते हैं कि अब वह न जाने पाए।

अभिप्राय यह है कि ईश्वर निधि है और श्री सीताजी उस निधि की स्वामिनी हैं। जब एक ही ब्रह्म अपने आपको लीला के लिए दो भागों में विभक्त करता है, तो दोनों भागों में परस्पर एक सम्बन्ध की भूमिका बनती है। यदि श्री राम निधि हैं, तो सीता भक्तिस्वरूपा होने के नाते उनकी स्वामिनी हैं। वैसे दोनों तत्त्वतः जल और वीचि के समान अभिन्न हैं--

गिरा अरथ जल वीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ १।१८

इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि यदि हम किसी

खजाने को पाना चाहें, तो उसके स्वामी के माध्यम से उसे पाना ही सही मार्ग है। अर्थात्, यदि हम ब्रह्म को पाना चाहें, तो भक्ति के माध्यम से उसे पाना ही सहज मार्ग होगा। अभिप्राय यह है कि श्री सीताजी के माध्यम से श्रीराम को पाने की चेष्टा करें, भक्ति के माध्यम से ईश्वर के तत्त्व को समझने का प्रयास करें। मानो यही संकेत प्रकट करने के लिए गोस्वामी जी ने भगवान् राम को सीताजी की 'निज निधि' कहा। जो एक तत्त्व था, वह लीला में दो बना और उसके ये दोनों रूप पुष्पवाटिका में एक दूसरे के निकट आने का प्रयास करते हैं। पुष्पवाटिका में दोनों के मिलन की भूमिका बनती है। इस मिलन की विशेषता यह है कि दोनों की देहें अभी दूर हैं, यह विदेहनगर का मिलन है, भावनात्मक दृष्टि से मिलन है। भगवान् राम श्री लक्ष्मण से विदेहनगर में शृंगार की चर्चा करते हैं। इस मिलन की समग्रता को गोस्वामीजी अपनी कवित्वपूर्ण भावनात्मक और दार्शनिक पद्धति से प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं---श्री सीताजी आती हैं, सरोवर में स्नान करती हैं और पार्वतीजी का पूजन करती हैं। फिर जो सखी श्री राम को देखकर आयी थी, उसे आगे करके अपनी सखियों के साथ श्री राम को खोजने निकल पड़ती हैं---"चला अग्र करि प्रिय सखि सोई।" किसी ने पूछ दिया कि क्या सीताजी

आगे आगे नहीं चल सकती थीं ? पीछे रहकर भी तो वह सखी मार्ग दिखा सकती थी। इसका उत्तर गोस्वामीजी एक दूसरी पंक्ति लिखकर देते हैं--"प्रीति पुरातन लखइ न कोई"। श्री सीताजी को लगा कि यदि मैं आगे आगे चली और उस स्थान पर पहुँच गयी, जहाँ श्री राम हैं, तो सखियों को सन्देह हो जायगा कि मैं पहले से ही श्री राम से परिचित थी, इसलिए उन्होंने परिचय करानेवाली सखी को आगे कर लिया, जिससे उनके पुराने परिचय की झलक किसी को न मिल पाये। इस प्रकार सीताजी के द्वारा, जो प्राप्त था उसे अप्राप्त बनाकर उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का परिचय दिया जा रहा है। इसे यों कह लीजिए कि पुष्पवाटिका में दो प्रक्रियाएँ चल रही हैं--एक तो भगवान् राम के द्वारा सीताजी के प्रति अनुराग की और दूसरी, सीताजी के माध्यम से भगवान् राम के अन्वेषण की, यानी भक्ति के द्वारा भगवान् को पाने की। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब सीताजी श्री राम के अन्वेषण को चलीं, तो उनके आभूषणों की ध्वनि हुई। इस ध्वनि को श्री राम ने सुना और उनका कवित्व फूट पड़ा ! गोस्वामीजी बड़ी अद्भुत बात कहते हैं कि अभी श्री राम ने सीताजी के रूप को नहीं देखा है, केवल उनके नूपुरों की ध्वनि-भर सुनी है और उनमें अनुराग का उदय हो जाता है ! रूप के माध्यम से शृंगार-रस

आते तो आपने बहुत सुना होगा, पर ध्वनि के भी माध्यम से शृंगार-रस आ सकता है, यह नयी बात है और गोस्वामीजी अपने विशेष दर्शन की अवतारणा के लिए यह नयी बात यहाँ पर रखते हैं। 'कंकन किंकिनि नूपुर' की ध्वनि सुनकर श्री राम के हृदय में कवित्व का उदय होता है। वे अयोध्या में कवि नहीं बन पाये। कवित्व का भाव भी किसी विशेष देश-काल में प्रकट होता है न! इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म बिना भक्ति के सहयोग से कवि बन भी कैसे सकता है? ब्रह्म में विवेक का प्राधान्य तो है, पर भक्ति के सम्पर्क से ही उसमें रस और अनुराग का उदय होता है। वैसे तो ब्रह्म विरागी है—"अग जगमय सब रहित बिरागी" (१।१८४।७), पर हमें विरागी ब्रह्म की नहीं, अनुरागी ब्रह्म की आवश्यकता है। और उसमें यह अनुराग श्री किशोरीजी ही पैदा कर सकती हैं, हम नहीं। अतः हम किशोरीजी से अनुरोध करें कि आप ब्रह्म को अनुरागी बना दीजिए, लक्ष्मणजी से प्रार्थना करें कि आप जरा अनुराग-रस की वृद्धि में सहायक बन जाइए।

तो, सीताजी के नूपुरों की ध्वनि श्री राम को जनकपुर की पुष्पवाटिका में कवि बना देती है। इसे लेकर सीताजी की सखियाँ भगवान् राम पर व्यंग्य करती हैं। जब वे कोहबर में ले जाये जाते हैं, तो वहाँ

वे चुप बैठे हैं। बड़े सकोची हैं, शीलवान् हैं, दृष्टि नीचे गड़ी हुई है, आँखें उठाकर देख नहीं पा रहे हैं। एक सखी ने पूछा—'इनका संकोच दूर कैसे किया जाय?' ससुराल की भाषा तो व्यंग्य और कटाक्ष की भाषा होती है। दूसरी सखी ने कहा—'जनकपुर में हजारों राजा आये, पर ऐसा अहंकारी राजकुमार तो आया ही नहीं!' फिर भी श्री राम पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। लक्ष्मणजी को आश्चर्य हुआ कि कोई मुझे अहंकारी कहे, तो कोई बात भी हो सकती है, पर श्री राम को अहंकारी कहना! सखी ने अपने मन्तव्य का कारण बताते हुए कहा कि इन्हें अपनी सुन्दरता का इतना गर्व है कि अपने को छोड़कर किसी दूसरे को देखने के लिए सिर ही नहीं उठाते। फिर वह मानो शिक्षा देते हुए कहती है—"गरब करहु रघुनन्दन जनि जियँ माहिं"। लक्ष्मणजी से नहीं रहा गया, वे बोल उठे—हमारे राम में कोई गर्व नहीं है; फिर ये गर्व करें भी, तो क्या झूठा गर्व है?' सखी ने पूछा—'किस बात का इनको इतना गर्व है?' लक्ष्मणजी ने उत्तर में कहा—'जिस धनुष के न टूटने से तुम लोग इतनी निराश हो गयी थीं कि आँखों में आँसू भर आये थे, उसे किसने तोड़ा?' जनकपुर की सखियाँ हार माननेवाली नहीं थीं। गोस्वामीजी के अनुसार वे तो श्रुति की ऋचाएँ थीं। सखी ने तुरन्त लक्ष्मणजी से पूछ दिया—'अच्छा, तुम तो परशुरामजी

से कह रहे थे कि इन्होंने धनुष नहीं तोड़ा, वह टूट गया, अब कह रहे हो कि इन्होंने तोड़ा है। तो, तुमने पहले जो कहा था, वह सत्य है या अब सत्य बोल रहे हो?' लक्ष्मणजी ने पूछा—'अच्छा, मान लो इन्होंने तोड़ा नहीं, तो धनुष फिर टूटा कैसे?' सखी बोली—'उसका उत्तर तो सरल है। असल में ये धनुष तोड़ ही नहीं सकते। जिसे पुष्पवाटिका में फूल चुनने में पसीना आ जाता हो, वह भला धनुष तोड़ सकता है? यह तो हम लोगों ने इन पर दया की। हमने प्रार्थना की कि इन्हें बल मिले, जिससे धनुष टूट जाय!'

और यह एक सैद्धान्तिक सत्य भी है। ब्रह्म अकर्ता है, वह अपने आप कुछ नहीं कर सकता। उसमें सामर्थ्य नहीं है। ब्रह्म सो गया, तो उठता नहीं। उठ गया तो बैठता नहीं; बैठ गया तो चलता नहीं; और चलने लगे तो क्रिया करता नहीं। उसमें जो क्रिया होगी, वह भक्त की भावना से होगी। इसलिए श्री राम धनुषयज्ञ में जो बैठे, तो उठते ही नहीं। तब पहले लक्ष्मणजी को गर्जना करके उन्हें जगाना पड़ा और विश्वामित्रजी को कहना पड़ा—"उठहु राम" —राम, उठो, ऐसे बैठ मत जाओ, निर्गुण से सगुण बनकर भी क्या अकर्ता ही बने रहोगे? और तब धनुष टूटता है। कैसे?—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥ १।२५३।७

——श्री राम गुरु के वचन सुन उठते हैं और चरणों में सिर नवाते हैं। उनमें न हर्ष है, न विषाद। हर्ष और विषाद न हो, तो क्रिया की स्फुरणा कैसे होगी और यदि क्रिया की स्फुरणा न हो, तो धनुष कैसे टूटेगा? इसलिए जनकपुर की स्त्रियाँ जो कहती हैं कि हमने प्रार्थना करके श्री राम को बल दिया है, उसमें कोई बेतुकी बात नहीं है, क्योंकि भक्तों की भावना ही तो ब्रह्म में क्रिया उत्पन्न करती है। सारे जनकपुरवासी अपने पुण्य को याद करते हैं——

बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे।
जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।।
तौ सिव धनु मृनाल की नाईं।
तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं।। १।२५४।७-८

——वे पितर और देवताओं की वन्दना करते हैं और प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे गणेश गोसाईं, यदि हमारे पुण्यों का कुछ भी प्रभाव हो, तो रामचन्द्रजी शिवजी के धनुष को कमल की डण्डी की भाँति तोड़ डालें।

गणेश देवता का चुनाव भी कैसा बढ़िया किया। शिव या पार्वती या विष्णु को नहीं चुना, सोचा कि तोड़ने का काम तो हाथी ही बढ़िया करेगा, इसलिए गणेश को चुना। फिर यह भी ध्यान आया कि कहीं धनुष टूटने पर शंकरजी रुष्ट न हो जायँ कि हमारा धनुष किसने तोड़ दिया, इसलिए अच्छा होगा कि

बेटे से तुड़वाओ। बेटा यदि सहायता करेगा, तो बाप को चुप रह जाना पड़ेगा। यदि आपकी वस्तु कोई दूसरा तोड़ दे, तो आप रुष्ट हो जाएँगे, पर यदि आपका छोटा लड़का तोड़ दे, तो आप कहेंगे कि भई, क्या करें, लड़के ने तोड़ दिया है।

इसीलिए सखी लक्ष्मणजी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहती है—'धनुष हमारी सहायता से तोड़ा गया है, इसमें राम की क्या विशेषता है ? इसलिए इन्हें गर्व नहीं करना चाहिए।' लक्ष्मणजी इस पर बोल उठे, 'अच्छा, जब इन्होंने अहल्या का उद्धार किया, तब तो तुम लोग नहीं थीं, फिर वह कैसे हुआ ?' सखी ने व्यंग्य करते हुए कहा, 'यदि इनमें इतनी ही सामर्थ्य होती, तो अयोध्या में कितने पत्थरों का इन्होंने उद्धार किया है बताओ ? वह कोई इनके चरणों का चमत्कार थोड़े ही था, वह तो इनके चरणों की धूल का चमत्कार था—

रावरि दोष न पाहन को पग धूरि को भूरि प्रभाव महा।

और जानते हो यह चमत्कार कब घटा ? जब ये अयोध्या छोड़कर, विश्वामित्रजी के आश्रम से जनकपुर की ओर चले। वह तो इस क्षेत्र की धूलि का चमत्कार था, इनके चरणों का नहीं !'

और वस्तुतः उद्धार तो भक्त की धूलि से हुआ करता है, भक्त के ज्ञान से नहीं। यदि ब्रह्म स्वयमेव परिवर्तन साधित करने में समर्थ होता, तब

तो उसे सबका उद्धार कर डालना चाहिए था, क्योंकि वह तो प्रत्येक के हृदय में बैठा हुआ है। पर ऐसा तो नहीं देखा जाता। दुष्वृत्तिसम्पन्न और दुष्कर्मी तो सर्वत्र सर्वकाल में देखे जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक उस अन्तःस्थ ब्रह्म में भक्ति के पथ की धूल जाकर लिपट नहीं जाती, तब तक उसमें उद्धार की सामर्थ्य नहीं आती है। इसलिए सखी ने लक्ष्मणजी से कहा कि इस उद्धार-सामर्थ्य पर भी इनका गर्व करना व्यर्थ है। इस पर लक्ष्मणजी पूछते हैं--'तो क्या ये अपने सौन्दर्य का भी गर्व नहीं कर सकते?' सखी हँसकर कहती है--'इसमें भला गर्व की क्या बात? ये जरा हमारी किशोरीजी की ओर तो देखें, ये तो किशोरीजी के सौन्दर्य की छाया लगते हैं, छाया!'--

गरब करहु रघुनन्दन जनि जियँ माहिं।
आपन सूरत देखउ पिय की छाँहि॥

सखियों ने कैसी सार्थक तुलना की! श्री राम की श्यामता पर कटाक्ष करते हुए उसे सीताजी की गौरता की छाया निरूपित किया! सच ही तो है, ब्रह्म कहाँ चलता है? भक्तों का ईश्वर कब चलता है, कैसे चलता है? व्यक्ति और छाया दोनों चलते हुए दिखायी देते हैं, पर नियम यह है कि छाया उधर ही चलेगी, जिधर व्यक्ति चलेगा। सखियों का अभिप्राय यह है कि श्री राम छाया हैं और सीताजी व्यक्ति। भक्ति की छाया है ईश्वर

जिधर भक्ति जायगी, भगवान् को उधर जाने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इसलिए भक्त उस विरागी और निष्क्रिय ब्रह्म को अनुरागी और सक्रिय बनाने के लिए भक्ति से प्रार्थना करता है। और इस सक्रियता की भूमिका जनकपुर की दिव्य पुष्पवाटिका से प्रारम्भ होती है। यह विदेह की वाटिका है, जहाँ सीताजी अपनी अष्टसखियों के साथ ब्रह्म को खोजने निकलती हैं। ये अष्टसखियाँ हैं भक्ति के अष्टभाव। उनके आभूषणों की ध्वनि ज्योंही ब्रह्म के कानों में पहुँचा कि समस्या का समाधान हो गया। ईश्वर को पुकारते तो हम सभी हैं, पर सन्देह बना रहता है कि वह सुनता भी है या नहीं ? शंका होती है कि इतनी दूर तक हमारी आवाज पहुँच भी पाता है या नहीं ? किसी ने तो कह ही दिया कि पुकारे जाओ, कभी न कभी तो उसके कान में भनक पड़ेगी--

कबहुँ तो दीनदयाल के भनक परेगी कान।

फिर किसी को सन्देह होता है कि वह हमारी पुकार भले ही सुन ले, पर हमारी भाषा समझेगा या नहीं ? गोस्वामीजी ने हिन्दी में रचना की, तो लोगों ने व्यंग्य से कहा--ईश्वर देववाणी समझेगा या यह गाँव की भाषा ? इन सब प्रश्नों का उत्तर आज सीताजी ने दे दिया। ईश्वर ने उनके आभूषणों की आवाज सुनी। अब ये आभूषण किस भाषा में बोल रहे थे--देवभाषा में या हिन्दी में ? वे किस भाषा

में उच्चारण कर रहे थे ? वस्तुतः वह अनुराग की भाषा थी, जो आभूषणों से निकल रही थी, और ईश्वर अनुराग की भाषा समझता है, उसे किसी व्याकरण की अपेक्षा नहीं है। वह तो अनुराग की धीमी से धीमी ध्वनि भी सुन लेता है––"चींटी के पग नूपुर बाजे वह भी साहिब सुनता"। और आज पुष्प-वाटिका में अनुराग की यह ध्वनि सुनकर भगवान् श्री राम के अन्तःकरण में कवित्व फूट पड़ा। जब कविता बनने लगी, तो श्रोता अवश्य चाहिए। यह श्रोता उन्हें श्री लक्ष्मण में प्राप्त होता है, जो सदैव उनके साथ हैं। श्री लक्ष्मण ऐसे साथी हैं, जो जब जैसा आवश्यक होता है वैसा बन जाते हैं––मंत्री की आवश्यकता हो तो मंत्री बन जाते हैं, पुत्र की आवश्यकता हो तो पुत्र, मित्र की आवश्यकता हो तो मित्र और श्रोता की आवश्यकता हो तो श्रोता। और बड़े अद्भुत श्रोता हैं ये लक्ष्मण, सुनते तो पूरा हैं, पर बोलते कुछ नहीं। भगवान् राम पूरी कविता सुना गये––

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥ (१।२२९।१-२)

––लक्ष्मण ! मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कामदेव वाद्य बजाता हुआ विश्व-विजय का संकल्प लेकर यात्रा को निकला है, यह आभूषणों की

ध्वनि नहीं, यह तो मानो कामदेव की दुन्दुभि बज रही है ! पर ऐसी सुन्दर कविता सुनकर भी लक्ष्मण मौन रहते हैं। यह क्या प्रदर्शित करता है ?

जब आप नदी में स्नान करने जाते हैं, तो कभी आप भीतर गोता लगाते हैं और कभी बाहर आ जाते हैं। स्नान की प्रक्रिया में जल के भीतर डूबना और उसके बाहर आना ये दोनों प्रक्रियाएं शामिल हैं। इसी प्रकार कभी मुखरित वाणी से, ध्वनि निकालते हुए, सराहना करना यह प्रशंसा करने की एक प्रक्रिया है और कभी वाणी का मौन होकर व्यक्ति का अपने भीतर डूबकर शान्त हो जाना यह उसकी दूसरी प्रक्रिया है। भगवान् श्री राम की कविता सुनकर लक्ष्मणजी किस प्रकार प्रशंसा करें ? उनकी स्थिति बड़ी कठिन है। वे शृंगार-रस का उपभोक्ता कैसे बनें ? गोस्वामीजी से पूछा गया कि जहाँ आप शक्ति और ब्रह्म का मिलन करा रहे हैं, शृंगार-रस का प्रसंग उठा रहे हैं, वहाँ आप लक्ष्मणजी को क्यों उपस्थित करते हैं ? इसका उत्तर भी बड़ा सार्थक दिया गया। लक्ष्मणजी हैं शेष और भगवान् नारायण शेषशय्या पर सोते हैं। शय्या ही शृंगार-रस में मूक साक्षी होती है। वह निरपेक्ष होती है, वह समग्र शृंगार की द्रष्टा के रूप में सहायक तो है, पर वह भोक्ता नहीं है। उसे कोई संकोच नहीं है, क्योंकि भले ही व्यवहार में तृतीय

दिखायी देता हो, पर वस्तुतः कोई तृतीय नहीं है। इसीलिए लक्ष्मण भगवान् राम की कविता सुनकर भी मौन रहते हैं--शय्या के समान मौन रहकर अपनी उपस्थिति के भान को दबाये रहते हैं। पहली बार, आभूषणों का शब्द सुनकर जब श्री राम ने कविता की, तब लक्ष्मण मौन रहे थे। दूसरी बार, सीताजी का सौन्दर्य देखने के उपरान्त जब उन्होंने श्री लक्ष्मण के समक्ष अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा था कि मेरा सहज-पवित्र मन जनकनन्दिनी के सौन्दर्य को देख अनुरागयुक्त हो गया है, तब भी लक्ष्मण मौन रहे थे। पूरा दिन मौन म बीत गया, सायंकाल एवं रात्रि भी मौन में व्यतीत हो गयी। जब दूसरे दिन प्रातःकाल हुआ और प्रभु ने कहा--"उयउ अरुन" (१।२३७।७), तब लक्ष्मणजी का मौन टूटा। प्रभु ने पूछा--लक्ष्मण, जरा निकलकर देखा तो सही कि सूर्य निकल आया है या नहीं, तब लक्ष्मण का भी कवित्व फूट पड़ा। अपने उस उत्तर में लक्ष्मणजी ने प्रभु के उस कवित्व को भी स्वीकृति दे दी, जो पहले दिन प्रभु के मुख से फूट पड़ा था। वे कह उठे--

बोले लखनु जोरि जुग पानी।
प्रभु प्रभाउ सूचक मृदु बानी॥
अरुनोदयँ सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन

(१।२३८)

नृप सब नखत करहिं उजिआरी ।
टारि न सकहिं चाप तम भारी ॥
कमल कोक मधुकर खग नाना ।
हरषे सकल निसा अवसाना ॥
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे ।
होइहहिं टूटें धनुष सुखारे ॥

प्रभु ने हँसकर कहा--लक्ष्मण ! तुम तो ज्योतिषी भी बन गये । आगे क्या होनेवाला है यह सब तुमने बता दिया ! तो, लक्ष्मणजी भगवान् राम के साथ सब प्रकार की भूमिका निभा जाते हैं। उन्हें अपने ऊपर पूरा नियंत्रण है । उन्हें अपने कर्तव्य का पूरा ज्ञान है । वे अत्यन्त अनुशासित हैं । शृंगार-रस की अभिव्यक्ति में जब भगवान् राम की वाणी प्रगल्भ हो उठती है, तो श्री लक्ष्मण अपने शेषत्व का स्मरण कर मौन रहते हैं । लोग उन्हें न समझने के कारण ही 'खोट' और 'निरंकुश' आदि की संज्ञा दे बैठे थे। परशराम-लक्ष्मण संवाद के प्रसंग में जनकपुरवासी कह बैठे थ-- 'छोट कुमार खोट बड़ भारी" । परशुराम ने तो उन्हें "निपट निरंकुस" की ही उपाधि दे दी थी । महाराज जनक ने भी कह दिया था--"मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं" । इस पर प्रभु ने लक्ष्मणजी की ओर आँखें तरेरकर देखा था--"नयन तरेरे राम" । तब परशुराम को बड़ी प्रसन्नता हुई थी, सोचा था कि चलो, राम ने भी भौंहें टेढ़ी कर

लक्ष्मण के टेढ़ेपन, खोटेपन का प्रमाण-पत्र दे दिया है। पर क्या प्रभु ने परशुराम का पक्ष लेते हुए नेत्र तरेरे थे ? नहीं, बल्कि इस क्रिया के द्वारा उन्होंने लक्ष्मण की सबसे अधिक प्रशंसा की थी। कैसे ? ज्योंही उन्होंने नेत्र टेढ़े कर लक्ष्मणजी की ओर देखा, त्योंही वे टेढ़ी वाणी बोलना बन्द कर गुरु के समीप चले गये––"गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम" (१।२७८)। मानो भगवान् राम ने परशुरामजी को यह दिखा दिया कि लक्ष्मण तो इतना अनुशासित है कि वह आँखों का इशारा भी मान जाता है, अगर वह शब्द से न मानता दिखायी देता हो, तो वह मनवानेवाले की भूल होगी।

ऐसे अनुशासित लक्ष्मणजी पुष्पवाटिका में भगवान् राम के हृदय से फूटनेवाली कविता को मौन रहकर सुनते हैं और फिर संकेत से ही वे प्रभु को लताकुंज में ले जाते हैं। वहाँ वे एक नया काम करते हैं। जो हाथ धनुष-बाण चलाया करते थे, अपने उन हाथों में वे फूल का दोना, फूल की कलियाँ लेते हैं और प्रभु के माथे को सजाने लगते हैं। लक्ष्मणजी को लगता है कि अनुराग की इस दिव्य भूमि में दूल्हे का श्रृंगार तो हो जाय। प्रभु पूजा के लिए पुष्प चुनने आये थे, इसलिए मर्यादा का ध्यान रखते हुए उन्होंने मुकुट भी धारण नहीं किया था। अब लक्ष्मणजी उनके पूरे माथे में फूलों की कलियाँ

लगा देते हैं। भगवान् राम जब पुष्पवाटिका में आये, तो उन्हें देख मयूर नाचने लगा था। उसका जो पंख गिरा था, उसे लक्ष्मणजी ने उठा लिया और प्रभु के माथे पर लगा दिया। इस प्रकार जब फूलों और मोरपंख से लक्ष्मणजी ने प्रभु को सजा दिया, तो धीरे से उन्होंने प्रभु को संकेत किया कि अब लताकुंज से बाहर निकलिए। और भगवान् राम को अपनी सारी कविता का मानो उत्तर मिल गया। प्रभु ने कहा था कि लक्ष्मण, मेरे हृदय में अनुराग का उदय हो गया है, और लक्ष्मणजी ने प्रभु के सिर पर मोर-पंख बाँधकर मानो घोषणा कर दी कि आज तक जो ब्रह्म निष्पक्ष था, वह अब पक्षधर हो गया है। इस प्रकार विरागी और निष्पक्ष ब्रह्म को अनुरागी और पक्षधर बनाकर लक्ष्मणजी ने जीव की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया।

●

जो सरल भक्ति-विश्वास के साथ प्रभु के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देता है, उसे बहुत जल्दी ईश्वर-प्राप्ति होती है।

—श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर, एम्. ए.

(१) खुदा का महत्त्व

एक बार गुरु नानकदेव मक्काशरीफ गये। उनके आने की खबर सुनकर काजी रुकनुद्दीन उनसे मिलने आये। सत्संग के दौरान उन्होंने नानकदेव से पूछा, "खुदा का महल कैसा है? उसके कितने दरवाजे हैं, कितनी खिड़कियाँ हैं, कितने बुर्ज हैं?"

नानकदेव बोले, "खुदा का महल अपना शरीर ही तो है, जिसे लोग जान नहीं पाते। इस महल के १२ बुर्ज हैं—तीन दाहिनी बाँह के जोड़, तीन बाईं बाँह के जोड़ और दोनों टाँगों के तीन तीन जोड़; नौ दरवाजे हैं—दो कान, दो आँखें नाक के दो सूराख, एक मूंह और नीचे के दो सूराख; बावन किंगरे हैं—हाथों और पैरों के बीस नाखून और बत्तीस दाँत; दोनों आँखें खिड़कियाँ हैं। और इन सबसे बना यह महल बड़ा ही अजीब और सुन्दर है। यही खुदा की मस्जिद और देवताओं का मन्दिर है। हम इसके बाहर रहकर ही माथा रगड़ते हैं, मगर बाहर कहीं कुछ मिलता है?"

इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—"ऊँचे महल ते देवे बाँग खुदा"— इस शरीर के अन्दर से खुदा बाँग देता रहता है और

इसका किसी को पता नहीं चलता। बाँग जब होती रहती है, तब सब सोते रहते हैं, इसलिए पता चले भी तो कैसे ?"

उन्होंने आगे कहा---

"सुत्ते बाँग न सुन सकण, रहिया खुदा जगा।
सुत्ती पई निभाग सब सुने न बाँगाँ कोए ॥
जो जागे सोई सुने सारे संधी सोए ॥

---अर्थात् मालिक उन्हें जगाना चाहता है, लेकिन जागता कोई नहीं है। उन लोगों की बदकिस्मती ही कहनी चाहिए कि जो रात को जागते रहते हैं, लेकिन बाँग सुनायी नहीं देती। वास्तव में जो जागता है, उसकी सूरत शब्द में लगती है और वही मालिक की आवाज यानी नाम को सुन पाता है।"

(२) पैर की जूती

अमीर खुसरो निजामुद्दीन औलिया के पक्के शागिर्द थे। खुसरो पहले मुलतान के हाकिम के यहाँ नौकरी करते थे, किन्तु किसी कारण उन्होंने नौकरी छोड़ दी। और वे अपना सारा सामान ऊँटों पर लादकर गुरु से मिलने दिल्ली की ओर निकल पड़े।

इधर हजरत निजामुद्दीन के पास एक गरीब आदमी आया और बोला, "मालिक, मेरी लड़की की शादी तय हो गयी है। यदि आप कुछ मदद कर सकें, तो मैं आपका शुक्रगुजार हूँगा :" हजरत बोले, "आज

तो मेरे पास देने के लिए कुछ नहीं है, तुम कल आना ।" वह आदमी जब दूसरे दिन गया, तो हजरत बोले, "आज भी मुझे कुछ नहीं मिला । कल आकर देखना, शायद कुछ मिल जाय ।" इस प्रकार तीन दिन बीत गये, लेकिन हजरत के पास भेंट चढ़ाने के लिए कोई न आया । आखिर चौथे दिन जब वह गरीब वापस जाने लगा, तो उन्होंने उसे अपनी जूती ही दे डाली । बेचारा जूती को देखकर निराश हो गया, किन्तु हजरत की दी हुई चीज को अस्वीकार भी नहीं कर सकता था, इसलिए उसे ही लेकर जाने लगा कि इतने में सामने से खुसरो आते दिखायी दिये ।

अमीर खुसरो को लगा कि कहीं से पीर की खुशबू आ रही है, किन्तु पीर (हजरत निजामुद्दीन) कहीं दिखायी नहीं दे रहे थे । जब वह आदमी उनके सामने से गुजरा, तो वे समझ गये कि खुशबू इसी आदमी के पास से आ रही है । उन्होंने उसे रोककर पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं ?" उसने सारी बात बता दी । तब खुसरो बोले, "क्या तुम इस जूती को बेचोगे ?" उस आदमी ने कहा, "आप वैसे भी ले सकते हैं, क्योंकि मेरे लिए इसका कोई उपयोग नहीं है । किन्तु खुसरो ने पत्नी, दो बच्चों और खुद के लिए एक एक ऊँट रखकर बाकी सारे ऊँट और उन पर लदा सामान उस आदमी को दे डाला । वह

उन्हें दुआ देता चला गया।

खुसरो जब दिल्ली पहुँचे, तो उन्होंने हजरत के चरणों पर वह जूती रख दी। तब उन्होंने पूछा, "इसके बदले क्या दिया है तुमने?" खुसरो ने सारी चीजें गिना दीं। तब पीर बोले, "तुम्हें यह सस्ते में ही मिली है।" तथापि खुसरो का अपने प्रति यह उत्कट प्रेम देख उनके मुख से निम्न शब्द निकले, "इसकी कब्र मेरी कब्र के पास ही बनाना।"

(३) पाप का दान

एक बार सन्त जेरोम क्रिस्मस की रात को बेथलेम में घूम रहे थे कि उनके मन में ईसा के बारे में विचार उठने लगे। अचानक उन्हें सामने ईसा एक बालक के रूप में दिखायी दिये। बालक ईसा उनसे बोले, "आज मेरा जन्म-दिन है। आप मेरे लिए कुछ उपहार लाये ही होंगे!" जेरोम ने उत्तर दिया, "वैसे तो मेरे पास देने के लिए कोई चीज नहीं है, मगर यह हृदय आपको दे सकता हूँ।" यीशु बोले, "हृदय के अलावा और कुछ नहीं दे सकते?" जेरोम ने उत्तर दिया, "हृदय ही क्यों, मेरा सब कुछ अर्पित है। आप जो चाहें माँग सकते हैं। बस, आपको प्रसन्न देखना चाहता हूँ।" यीशु ने कहा, "कुछ और दो। इतना काफी नहीं है!" सन्त बोले, "मेरे पास और कुछ नहीं है। आपकी दृष्टि में यदि कुछ दिखायी दे, तो बता दीजिए, मैं सहर्ष देने को तैयार

हूँ।" ईसा मुसकरा दिये, बोले, 'तुम्हारे पास देने लायक है और वह है—पाप। तुम अपना पाप मुझे दे सको तो दो, जिससे मैं तुम्हें याद कर सकूँ।"

(४) नियति की गति

एक दिन सुप्रसिद्ध वेदान्ती केरलवासी नारायण भ्रान्तन् भिक्षान्न लेकर स्मशान में गये और तीन पत्थर एकत्र कर उन्होंने चूल्हा बनाया। फिर उस पर चावल की हाँड़ी चढ़ाकर वे भजन में मग्न हो गये। अचानक भयानक गर्जना सुनायी दी और थोड़ी ही देर में आवाज आयी, "कौन हो तुम, हट जाओ यहाँ से। यहाँ अब स्मशान-काली के अनुचर नृत्य करेंगे।" भ्रान्तन ने लापरवाही से उत्तर दिया, "आपको रोका किसने है? इतनी बड़ी जगह में आप कहीं भी नृत्य कर सकते हैं।" आवाज आयी, "हम मनुष्यों के सामने नृत्य नहीं करते। तुम यहाँ से चले जाओ। भ्रान्तन् बोले, "जहाँ कोई मनुष्य न हो, वहाँ चल दो।" आवाज आयी "हम यहीं नृत्य करते हैं।" "तो आज मत करो, कल करो," भ्रान्तन् का उत्तर था। क्रुद्ध आवाज आयी, "इसी स्थान पर प्रति दिन नृत्य करने का हमारा नियम है।" उत्तर मिला, "मेरा भी नियम है कि जहाँ भी इच्छा हो, खाओ और सो जाओ।" अब तो भूतगण बेहद नाराज हो गये और उन्होंने भ्रान्तन् को तंग करना शुरू किया, किन्तु वे जरा भी विचलित न हुए। तब स्मशान-काली प्रकट

होकर बोली, "महात्मन्, हम तुमसे हार गये हैं। हम तो यहाँ से जा रहे हैं, लेकिन हमारा यह भी नियम है कि जो मनुष्य हमारे सामने आता है, उसे या तो शाप देते हैं या वरदान।" इस पर श्रान्तन् हँस पड़े और बोले, "देखिए, मुझे न तो आपके शाप का भय है और न मैं वरदान का इच्छुक ही हूँ। लेकिन यदि आप यह बता सकें कि मेरी मृत्यु कब होगी, तो आपकी बड़ी कृपा होगी।" काली ने उन्हें नियत तिथि और समय बता दिया। तब श्रान्तन् बोले, "यदि आप वरदान देना चाहती हैं, तो कृपया मुझे इस तिथि से एक दिन पहले या बाद में मार दीजिए।" काली ने उत्तर दिया, "यह मेरे बस की बात नहीं है। मनुष्य की मृत्यु निश्चित तिथि को ही होती है।" श्रान्तन ने हँसकर कहा, "यह तो मैं जानता ही था कि नियति की गति को मनुष्य के पुरुषार्थ के अलावा और कोई बदल नहीं सकता। आपने व्यर्थ ही मेरा समय नष्ट कर दिया!"

(५) दोस्ती के हाथ

स्वामी रामतीर्थ जहाज द्वारा जापान से अमेरिका जा रहे थे। जब सैनफ्रान्सिस्को बन्दरगाह आया, तो सब लोग उतरने लगे, लेकिन स्वामीजी निश्चिन्त भाव से डैक पर टहलने लगे। एक अमरीकी का जब उनकी ओर ध्यान गया, तो उसने पूछा, "महाशय! आपका सामान कहाँ है?"

"मेरे पास कोई सामान नहीं है, जो कुछ है, मेरे शरीर पर ही है।"

"क्या आपके पास पैसे भी नहीं हैं ?"

"नहीं", स्वामीजी ने उत्तर दिया।

"तब आपका जीवन कैसे चलता है ?"

"सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना ही मेरा जीवन है। जब मुझे प्यास लगती है, तो पानी मिल जाता है। जब भूख लगती हैं, तो कोई रोटी का टुकड़ा दे ही देता है !"

"क्या अमेरिका में आपका कोई दोस्त है ?"

"हाँ ! है क्यों नहीं ? एक अमरीकी मेरा दोस्त है," और यह कह उन्होंने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "मेरा दोस्त यह है !"

उनके इस आत्मीयतापूर्ण स्पर्श का उस पर जादू का-सा असर पड़ा। उसे ऐसा महसूस हुआ, मानो उनके साथ उसकी पुरानी मित्रता है। वह एक सच्चे दोस्त की भाँति उनका मित्र हो गया। इसके बाद स्वामीजी जब कभी भी सैनफ्रान्सिस्को आये, उसने उन्हें अपने यहाँ ही सम्मानपूर्वक रखा और उनका बराबर ख्याल किया।

●

रस और उसकी निवृत्ति

(गीताध्याय २, [श्लोक ५९-६१)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

निराहारस्य (निराहारी) देहिनः (देही के) विषयाः (इन्द्रिय-विषय) विनिवर्तन्ते (निवृत्त हो जाते हैं) रसवर्जं (रस को छोड़कर) [किन्तु] परं (परमतत्त्व को) दृष्ट्व (देख लेने पर) अस्य (इसका) रसः (रस) अपि (भी) निवर्तते (निवृत्त हो जाता है)।

"निराहार रहनेवाले देहाभिमानी जीव के इन्द्रिय-विषय तो निवृत्त हो जाते हैं पर उनके प्रति रस या आसक्ति रह जाती है। किन्तु परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर उसका यह रस भी निवृत्त हो जाता है।"

पिछले चार श्लोकों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण बतलाये और ५८ वे श्लोक में स्थितप्रज्ञता का लक्षण बतलाते हुए कहा कि जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कही जायगी। इस पर प्रश्न उठता है कि क्या इन्द्रियों को उनके विषय-भोगों से खींच लेने मात्र से मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जायगा और समाधि का अनुभव कर लेगा? इन्द्रियों को उनके

विषयों से खींचकर उनके अपने गोलक में स्थित करने का अभ्यास 'प्रत्याहार' कहलाता है। प्रत्याहार तो समाधि-रूप छत पर जाने के लिए एक नीचे की सीढ़ी मात्र है। तब केवल प्रत्याहार के द्वारा स्थित-प्रज्ञता कैसे प्राप्त हो सकती है? प्रत्याहार और समाधि के बीच में धारणा और ध्यान की दो सीढ़ियाँ और हैं। इन दोनों में से होकर गये बिना समाधि केवल बात की बात है। प्रत्याहार तो हठयोग से भी सध जाता है। कई लोग मन को विचारशून्य करने के लिए तरह तरह का अभ्यास करते हैं, जिससे मन जड़ हो जाय और निःसंकल्पता की स्थिति प्राप्त हो जाय। तो क्या इतने से प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जायगी? कई हठयोगी साधक प्राणायाम के सहारे प्राणों का नियमन कर भूमि के भीतर लगातार कई दिनों तक समाधि लगाकर बैठ जाते हैं, तो क्या ऐसी समाधि स्थितप्रज्ञता की समाधि कहलाएगी? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत श्लोक की अवतारणा की जाती है।

पिछले श्लोक की व्याख्या करते हुए हमने कहा था कि इन्द्रियों का अपने विषयों से हटकर अपने गोलकों में लौट आना साधना भी है और सिद्धि भी। जब हमें इसके लिए अभ्यास करना पड़ता है, तब वह साधना है और जब अपने आप यह स्थिति इच्छा मात्र से प्राप्त हो जाती है, तो वह सिद्धि है। स्थित-

प्रज्ञता का सम्बन्ध सिद्धि से है, साधना से नहीं। प्रश्न उठता है कि कैसे जाना जाय कि इन्द्रियों का अपने गोलकों में लौट आना साधना-रूप है या सिद्धि-रूप ? इसके उत्तर में प्रस्तुत श्लोक के द्वारा बताया गया कि जब देखो कि इन्द्रियाँ अपने विषय-भोगों को छोड़कर अपने गोलकों में लौट आयी हैं, पर विषयों के प्रति उनमें रस बना हुआ है, आसक्ति बनी हुई है, तो समझ लेना कि इन्द्रियों का यह प्रत्याहरण साधना-रूप है। पर यदि यह देखो कि विषय-भोगों से खिंचकर इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं जातीं, विषयों के प्रति तनिक भी रस या आकर्षण का अनुभव नहीं करतीं, तो उनका ऐसा प्रत्याहरण सिद्धि-रूप है और यही वस्तुतः स्थितप्रज्ञता की अवस्था है।

बलपूर्वक, हठयोग के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा तो लेते हैं, पर विषयों का चिन्तन नहीं छूटता। यह वैसे ही है, जैसे हम गाय के सामने हरा चारा डाल दें और डण्डे के द्वारा उसे चारा खाने से रोकें। डण्डे के डर से गाय चारे से अपना मुँह तो हटा लेती है, पर चारे का चिन्तन नहीं छूटता, चारे के प्रति उसका रस, उसकी आसक्ति बनी रहती है। ज्योंही डण्डा आँखों की ओट हुआ कि झट गाय चारे में मुह मारती है। बलपूवंक इन्द्रियों का दमन विषयों के प्रति मन के रस को, आसक्ति को

नष्ट नहीं कर सकता। श्रीरामकृष्ण एक कथा कहा करते थे कि कैसे एक बाजीगर जब लोगों को अपने करतब दिखाकर पैसे की माँग कर रहा था, तब उसकी जिह्वा उलटकर तालु से सट गयी और उसे जड़समाधि लग गयी। लोगों ने समझा कि उसे यथार्थ की समाधि लग गयी है और वे उसे पूजने लगे। दीर्घकाल तक वह बाजीगर उसी प्रकार जड़वत् पड़ा रहा। अचानक एक दिन उसकी जीभ तालु से हट गयी और वह सामान्य स्थिति में आ गया। वह तुरन्त उठकर फिर से करतब दिखाने लगा और पैसे की माँग करने लगा!

इसी प्रकार एक और कथा बताते हुए श्रीरामकृष्ण कहते कि कैसे एक व्यक्ति योग के चौरासी आसनों का ज्ञान रखता और सदैव योग एवं समाधि के विषय में बड़ी बड़ी बातें किया करता, पर भीतर ही भीतर उसका मन 'कामिनी और कांचन' में रहता। एक बार कहीं उसे कई हजार रुपये का एक बैंक-नोट मिल गया। वह लोभ न रोक सका और ऐसा सोचकर कि उसे बाद में निकाल लेगा, वह उस नोट को निगल गया। उसने बाद में नोट को निकाल तो लिया सही, पर वह पकड़ा गया और तीन वर्ष के लिए उसे जेल की हवा खानी पड़ी!

तो, ये जो प्राणायाम-आसन आदि क्रियाएँ हैं, वे भौतिक हैं। उनका ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं

है। उनसे ब्रह्मोपलब्धि नहीं होती। एक बार जब मैं हिमालय में वास कर रहा था, तब मन की निश्चंचलता के लिए हठयोग का अभ्यास कुछ अधिक मात्रा में कर रहा था। एक दिन दैवयोग से एक पहुँचे हुए महात्मा से मेरी भेंट हो गयी। उनसे वार्तालाप के प्रसंग में मैंने अपनी साधना की चर्चा की। उन्होंने कहा कि प्राणायामादि के अभ्यास से मन कुछ समय के लिए निश्चंचल तो अवश्य हो जायगा, पर वह निश्चंचलता क्षणिक ही होगी। कुछ देर बाद मन पुनः विक्षेप का शिकार हो जायगा। उसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा,' मन दो प्रकार से उत्तेजित होता है--एक तो बाहर के कारणों से और दूसरा, भीतर के कारणों से। बाहर के इन्द्रिय-विषय सतत मन को अपनी ओर खींचकर इन्द्रियों को उत्तेजित करते रहते हैं। उसी प्रकार भीतर की स्मृतियाँ भी मन को उद्वेलित करती रहती हैं। मन में इन्द्रिय-भोगों के लिए जो रस समाया हुआ है, वही इस बाहरी और भीतरी उत्तेजना का मूल कारण है। जब तक यह रस नहीं सूखेगा, तब तक प्राणायाम आदि के अभ्यास से प्राप्त मन की स्थिरता क्षणिक ही होगी। प्राणायाम आदि क्रियाएँ मन में समाये हुए उस रस को नहीं सोख सकतीं। केवल विवेक, वैराग्य और ज्ञान की साधना ही उस रस को सुखा सकती है।"

"तो क्या," मैंने उनसे पूछा, "प्राणायाम आदि का अभ्यास किसी प्रकार सहायक नहीं होता ?" उन्होंने उत्तर देते हुए कहा, "होता है, पर तब, जब उसका अभ्यास विवेक-वैराग्य और ज्ञान की साधना के साथ जुड़ा हो। इसके बिना हठयोग केवल भौतिक व्यायाम है। उसका अतिरेक मनुष्य को देह-केन्द्रित बना देता है। इसलिए हठयोग का अभ्यास भी सावधानी के साथ करना चाहिए—यह ध्यान देते हुए कि हमारा मन किसी भौतिक शक्ति की उपलब्धि को तो कहीं अपना लक्ष्य नहीं बना रहा है।"

मुझे उन महात्माजी से बड़ा सार्थक उपदेश मिला। इससे मुझे अपनी साधना-दृष्टि बदलने में बड़ी सहायता मिली। मैंने अपने भीतर टटोलकर देखा, आत्मनिरीक्षण किया। देखा कि हठयोग के अभ्यास से मन को कुछ समय के लिए शून्य तो कर लेता हूँ, पर यह शून्यता अधिक देर टिकती नहीं है। यह तो कुत्ते की पूँछ के समान है, जब तक उसे दोनों हाथों से सीधा करके रखा जाय, तब तक सीधी दिखती है और छोड़ते ही पहले के समान टेढ़ी हो जाती है। उनके उपदेश के आलोक मे गीता के विवेच्य श्लोक का अर्थ हृदयपटल पर उद्भासित हो उठा। तब समझ में आया कि सारी साधना का प्रयोजन उस 'रस' को सुखाने में है। अध्यात्म के राज्य में हठयोग

की क्रियाएँ वहीं तक उपयोगी हैं, जहाँ तक वे उस रस को सोखने में सहायक होती हैं। यह रस ही उस परमतत्त्व की उपलब्धि में प्रत्यवाय है, बाधा है।

श्रीरामकृष्ण 'डाब' की उपमा देते हैं। बंगाल में कच्चे नारियल को 'डाब' कहते हैं, जिसमें रस भरा होता है। उस अवस्था में छिलका और गूदा एकाकार होते हैं। गूदे को अलग निकालने का प्रयास करने से छिलका भी कटकर निकल आता है। पर जब रस सूख जाता है, तब गूदा स्वयं छिलके से अलग हो जाता है और नारियल को हिलाने से वह गड-गड आवाज करता है। इसी प्रकार जब तक जीव में वासना-रस भरा हुआ है, तब तक वह आत्मारूप गूदे को शरीर और मनरूपी छिलके से अलग करके नहीं देख पाता। जब विवेक-वैराग्य और ज्ञान की आँच से इस वासना-रस को सुखा दिया जाता है, तब शरीर और मनरूपी छिलके से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। भगवान् कृष्ण यहाँ पर हमें जो यह सन्देश देते हैं कि उस रस को पूरी तरह सुखाने के लिए परमतत्त्व का साक्षात्कार करना होगा, उसका अर्थ यह भी है कि जब तक यह रस पूरी तरह नहीं सूखेगा, तब तक ब्रह्मोपलब्धि नहीं हो सकती।

'निराहार' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'विषयों का आहरण न करना' लिया है अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से रूप का ग्रहण न करना निराहार हुआ, स्पर्शेन्द्रिय

का स्पर्श-संवेदना का ग्रहण न करना निराहार हुआ, श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द का ग्रहण न करना निराहार हुआ, आदि। जब तक आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ अपने बाहर के विषयों के लिए बन्द रहेंगी, तब तक उनके विषय निवृत्त रहेंगे, पर हम कब तक नेत्रों को बन्द किये रहेंगे, कब तक कान में उँगली डाले रहेंगे, कब तक नाक दबाये रहेंगे ? जैसे ही इन्द्रियों पर से नियंत्रण हटेगा कि वे तुरन्त अपने विषयों की ओर दौड़ पड़ेंगी, क्योंकि विषयों के प्रति आसक्ति मन में बनी हुई है, उनके प्रति रस अभी सूखा नहीं है।

'निराहार' शब्द का मुख्य अर्थ होता है 'भोजन न करना'। शरीर को भोजन न देने से सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और उनमें विषयों के ग्रहण की सामर्थ्य नहीं रह जाती। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि विषयों के प्रति उनका अनुराग भी समाप्त हो जाता हो। कोई बहुत दिनों से बीमार है, भोजन नहीं खा सकता है, उसे संसार के सारे विषय फीके लगते हैं, विषयों में उसे कोई आकर्षण, कोई खिंचाव नहीं मालूम पड़ता। पहले वह बहुत कामी था, पर अब कामिनी को समीप पाकर भी उसके अंग उद्वेलित नहीं होते। पहले वह बहुत लोभी था, पर धन और रुपये-पैसे की बात अब उसको अधिक प्रलोभित करती नहीं दिखायी देती। इसका क्या यह मतलब

हुआ कि विषयों के प्रति उसका अनुराग अब नहीं रहा ? नहीं, ऐसी बात नहीं। बात यह है कि भोजन न कर पाने से उसकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी हैं और उनमें विषयों की ओर जाने की क्षमता नहीं रही। इसका प्रमाण यही है कि जब वह स्वस्थ हो उठता है, तो पुनः उसकी इन्द्रियाँ अपने अपने विषय की ओर पूर्ववत् बेलगाम भागने लगती हैं। इसलिए निराहारी की विषय-निवृत्ति क्षणिक होती है, वह असमर्थता के कारण विषयों का भोग नहीं कर पाता, पर उसमें विषयों के प्रति पूरा लगाव होता है। यह लगाव तभी खत्म होता है, जब वह परतत्त्व को देख लेता है।

प्रतीत होता है कि उपवास की प्रथा भी इसलिए चल पड़ी कि चंचल घोड़ों के समान बलवान् इन्द्रियों को भोजन से वंचित करके निर्बल बनाकर पकड़ लेना। यह हाथी को पकड़ने के समान है। हाथी को पकड़ने के लिए उसे पहले गड्ढे में गिरा देते हैं और वहाँ बहुत दिनों तक उसे निराहार रखते हैं। इससे जब वह कमजोर हो जाता है, तब उसे पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार उपवास के सहारे मन को शिथिल करके पकड़ने का अभ्यास किया जाता है, क्योंकि मन अन्नमय होता है, वह अन्न से पुष्ट होता है और अन्न के अभाव में शिथिल हो जाता है। इस तथ्य को समझाने के लिए हमें 'छान्दोग्य उपनिषद्' में एक रोचक कथा प्राप्त

होती है। श्वेतकेतु उद्दालक आरुणि ऋषि का पुत्र है। उसे समझाते हुए पिता कहते हैं-- "अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्" आदि; यानी 'हे सोम्य, मन अन्नमय है, वह अन्न से ही बनता है; प्राण जलमय है; वाक् तेजोमयी है;' आदि। श्वेतकेतु को इस पर विश्वास नहीं होता। वह कहता है-- "अतोऽप्तेजसोरस्त्वेऽतत् सर्वमेवम्, मनस्त्वन्नमयमित्यत्र नैकान्तेन मम निश्चयो जातः" --आपके कथनानुसार जल और तेज के विषय में तो भले ही सब कुछ ऐसा ही हो; किन्तु अभी तक मुझे इस बात का पूरा निश्चय नहीं हुआ है कि मन अन्नमय है।' श्वेतकेतु की शंका यह थी कि मन तो सूक्ष्म है, जबकि अन्न स्थूल। तो, स्थूल अन्न से सूक्ष्म मन कैसे बन सकता है? उसकी शंका को दूर करने के लिए पिता समझाते हैं-- "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः" --'खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है; जो मध्यम भाग है, वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह मन हो जाता है।' परन्तु फिर भी श्वेतकेतु की शंका दूर नहीं होती। इसलिए पिता कहते हैं-- "पंचदशाहानि माशीः, कामम् अपः पिब, अपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति"-- 'तू पन्द्रह दिन

भोजन मत कर, केवल यथेच्छ जलपान कर। प्राण जलमय है, इसलिए जल पीते रहने से उसका नाश नहीं होगा।' श्वेतकेतु वैसा ही करता है। वह पन्द्रह दिन अनाहारी रहता है। सोलहवें दिन जब पिता के पास आता है, तो पिता कहते है—तू ऋक्, यजु और साम का पाठ कर। श्वेतकेतु कहता है—"न वै मा प्रतिभान्ति भो इति"— 'भगवान्, मुझे उनका प्रतिभान (स्फुरण) नहीं होता।' तब पिता निर्देश देते हैं—"अशान अथ मे विज्ञास्यसि इति"— 'अच्छा, अब तू भोजन कर, तब मेरी बात समझ जायगा।' उसने भोजन किया और पिता के पास आया। फिर पिता ने जो कुछ पूछा, वह सब उसने बता दिया।

इस आख्यायिका का तात्पर्य यहीं है बताना कि मन अन्न से पुष्ट होता है। यदि व्यक्ति निराहारी रहे, तो मन अशक्त हो जाता है, स्मृति क्षीण पड़ जाती है। पर इससे विषयों के प्रति उसका राग निवृत्त नहीं हो जाता। परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए इस राग का निवृत्त होना आवश्यक है।

कुछ टीकाकारों ने 'रस' का अर्थ भोजन का रसास्वाद लिया है। उनका कहना है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में रसना ही सबसे बलवती है। एक बार अन्य इन्द्रियों पर काबू पाया जा सकता है, पर जिह्वा पर नियंत्रण पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए वे इस

श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं कि भोजन न पाने पर अन्य इन्द्रियाँ तो निवृत्त हो जाती हैं, पर रसनेन्द्रिय निवृत्त नहीं होती। अपने कथन के प्रमाण में वे भागवत का यह श्लोक (११/८/२०-२१) प्रस्तुत करते हैं--

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

--'विवेकी पुरुष भोजन बन्द करके दूसरी इन्द्रियों पर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वश में नहीं होती; वह तो भोजन बन्द कर देने से और भी प्रबल हो जाती है। अन्य सब इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लने पर भी मनुष्य तब तक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जब तक रसनेन्द्रिय को अपने वश में नहीं कर लता; और यदि रसनेन्द्रिय को वश में कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वश में हो गयीं।'

रसना की ऐसी दुर्जय स्वाद-प्रवृत्ति भी परमात्मा के साक्षात्कार से वश में हो जाती है।

प्रस्तुत श्लोक में 'देही' शब्द का उपयोग किया गया है, कहा गया है कि निराहारी देही के इन्द्रिय-विषय निवृत्त हो जाते हैं, उनके प्रति रस नहीं। देही का अथ 'देहाभिमानी जीव' किया जाता है। जिसे देह का अभिमान है, वह विषयों के रस से कैसे मुक्त हो

सकता है ? देह ही वासना का अधिष्ठान है। जब तक देहाभिमान बना है, वासना की हलचल मन में बनी रहेगी। देहाभिमान नष्ट होने पर ही वासना का रस सूखेगा या इसे यों भी कह लें, वासना का रस सूखने पर देहाभिमान नष्ट होगा। यह कैसे साधित हो ?—इसका उपाय अगले श्लोकों में प्रदर्शित करते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) यततः (यत्नशील) विपश्चितः पुरुषस्य (बुद्धिमान् पुरुष का) अपि हि (भी) मनः (मन) प्रमाथीनि (मथ देनेवाली) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) प्रसभं (बलपूर्वक) हरन्ति (हर लेती हैं)।

"हे कौन्तेय, यत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी मथ देनेवाली (बलवान्) इन्द्रियाँ बलपूर्वक विषयों में खींच लेती हैं।"

तानि सर्वाणि (उन सब [इन्द्रियों] को) संयम्य (संयमित करके) युक्तः (समाहित चित्त होकर) मत्परः (मेरे परायण) आसीत (अवस्थित रहे) हि (क्योंकि) यस्य (जिसकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) वशे (वश में हैं) तस्य (उसकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (प्रतिष्ठित है)।

"अतएव उन सब इन्द्रियों को सयमित करके, समाहित चित्त होकर, मेरे परायण हो अवस्थित रहे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश मे होती हैं, उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।"

६०वें श्लोक में इन्द्रियों के स्वभाव का वर्णन हुआ है—वे अत्यन्त बलवान् होती हैं, प्रबल रूप से मन को मथ देती हैं। इन्द्रियों को उनके विषय-भोगों से दूर रखकर थोड़ी देर के लिए मनुष्य भले ही आत्म-सन्तोष कर ले कि उसने इन्द्रियों को वश में कर लिया, पर जब तक विषयों के प्रति मन में रस का भाव विद्यमान है, यह आत्म-सन्तोष बहुधा आत्म-छलना ही साबित होता है। भले ही व्यक्ति 'विपश्चित्' हो, बुद्धिमान् हो, समझदार हो, विवेकी हो और यत्नशील साधक भी हो, पर यदि उसके मन में विषयों के प्रति तनिक भी आकर्षण कहीं छिपा हुआ है, तो उसे इन्द्रियों से सावधान रहना चाहिए। मौका पाते ही ये इन्द्रियाँ बलपूर्वक मन का हरण कर लेती हैं और उसे विषयों से लगा देती हैं। और यदि मन विषयों में चला गया, तो बुद्धि भी उसका अनुवर्तन करेगी। बुद्धि का विवेक करने का गुण दब जायगा और वह विषयों में बुराई देखने के बदले अच्छाई देखने लगेगी। कई साधकों का पतन इस कारण हो जाता है कि वे इन्द्रियों के सामर्थ्य की उपेक्षा कर बैठते हैं। जब तक हम इन्द्रियों की हाँ में हाँ मिलाते हैं, तब तक उनके सामर्थ्य का पता नहीं चलता, क्योंकि तब तो हम उनके साथ बहते होते हैं। उनकी शक्ति का पता तब चलता है, जब हम उनका विरोध करते हैं, उन्हें दबाते हैं, उन्हें अपने

विषयों में जाने से रोकते हैं। जब तक मनुष्य जल की धारा के साथ बहता रहता है, तब तक उसे धारा की प्रखरता का अनुभव नहीं होता, पर जब वह धारा के विपरीत जाता है, तब समझ पाता है कि धारा कितनी तेज है। नदी के प्रवाह का वेग हमें तब अनुभव में आता है, जब हम नदी पर बाँध बाँधते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के दुर्दमनीय स्वभाव का पता तब लगता है, जब हम उनका दमन करने का प्रयास करते हैं। ये इन्द्रियाँ डाकू के समान हैं, चोर या ठग के समान नहीं। चोर वह है, जो हमारे सोते में सामान चुराकर ले जाय। ठग वह है, जो जागते में हमें चकमा दे दे। डाकू वह है, जो सामने आकर, मार-पीटकर हमारा सब कुछ लूट ले। इन्द्रियाँ चोर नहीं हैं, वे सोते में कोई छेड़छाड़ नहीं करतीं। वे ठग भी नहीं हैं, वे हमें चकमा नहीं देतीं। वे तो जान-बूझकर, अपना इरादा प्रकट करती हुई सामने आकर डट जाती हैं और बलपूर्वक, डंके की चोट पर, मन का हरण करके ले जाती हैं। वे लुक-छिपकर हम पर घात नहीं करतीं।

अतएव साधक को इन्द्रियों से सावधान रहना चाहिए। इन्द्रियों के वेग की तीव्रता यहाँ पर 'प्रसभं' शब्द द्वारा व्यक्त की गयी है। जैसे, जब आँधी आती है, तब दिशाओं का दिखना बन्द हो जाता है; वैसे ही जब इन्द्रियों में वेग उपस्थित होता है, तब साधक का

विवेक अपना काम करना बन्द कर देता है और उसकी बुद्धि अपने नेत्र मूँदकर मन के साथ हो जाता है। ऐसे समय वे ही लोग बचते हैं, जो आवा का विज्ञान जानते हैं। समुद्र के नाविक बाहर के लक्षण देखकर जान लेते हैं कि भयंकर तूफान आनेवाला है और वे अपनी रक्षा के उपायों में जुट जाते हैं। गाँवों में भी लोग वायुमण्डल की अवस्था को देख समझ लेते हैं कि थोड़ी ही देर में जोरों की आँधी आनेवाली है और वे अपने इस ज्ञान के द्वारा अपनी रक्षा कर लेते हैं। इसी प्रकार साधक को भी इसका ज्ञान होना चाहिए कि कब इन्द्रियों में वेग उत्पन्न हो रहा है जिससे वह उनके आक्रमण से अपने मन की रक्षा कर सके। व्यक्ति भले ही यत्न करनेवाला साधक हो, भले ही वह विद्वान् और बुद्धिमान् हो, पण्डित हो, समझदार हो, शास्त्रों का अच्छा ज्ञाता हो, मनस्वी हो, पर जब तक वह इन्द्रिय-वेग को पहचानने में समर्थ नहीं है, तब तक उसका साधनक्रम, उसका ज्ञान अधूरा है। समुद्र के नाविक की योग्यता केवल इसी में नहीं है कि वह बढ़िया नौका खे लेता है, वरन उसमें आँधी-तूफान के पूर्वलक्षणों को पहचानने की भी योग्यता होनी चाहिए। इसी प्रकार साधक में अपने भीतर इन्द्रियादि के वेगों को पहचानने की क्षमता होनी चाहिए।

६१वें श्लोक में इस इन्द्रिय-वेग को प्रशमित

करने का उपाय प्रदर्शित हुआ है। ६०वें श्लोक में इन्द्रियवेग की तीव्रता का आभास दिया गया। प्रकारान्तर से सूचित किया गया कि जब तक मन में विषयों के प्रति रस विद्यमान है, तब तक इन्द्रियों से बहुत सावधान रहना चाहिए। पूर्व में यह भी बताया गया कि इस रस के सूखने पर ही परम तत्त्व का साक्षात्कार होता है। अब ६१वें श्लोक में इस रस को सुखाने की प्रक्रिया प्रदर्शित हुई है। इस प्रक्रिया के तीन सोपान बताये गये हैं। (१) इन्द्रियों का नियमन (तानि सर्वाणि संयम्य), (२) मन की सावधानी (युक्त आसीत) और (३) भगवत्परायणता (मत्परः)। पहला सोपान कहता है कि सभी इन्द्रियों का नियंत्रण करो। यदि इन्द्रियाँ अनियंत्रित रहेंगी, तो मन भी चंचल बना रहेगा। इन्द्रियाँ जब विषयों से हटेंगी, तब मन का उद्वेलन भी कम होगा। जब तक इन्द्रियाँ विषयों के सेवन में रत रहेंगी, मन ईश्वर की ओर नहीं जा सकेगा। इसलिए प्रथम करणीय यह है कि किसी भी प्रकार--चाहे हठयोग से, या मंत्रयोग से अथवा राजयोग से--इन्द्रियों को विषयों से लौटा ले आओ। इसके लिए उपवास-व्रत जो भी आवश्यक हो, करो। यह ध्यान रखो कि समस्त इन्द्रियों को लौटा लाना होगा। ऐसा मत कहो कि नेत्रों से थोड़ा देख भर लूँगा, तो क्या दोष होगा? कुछ दिन तो केवल देख लेने से काम बन जायगा, पर कुछ समय बाद

बोलने की इच्छा होगी, फिर स्पर्श करने की। इससे इन्द्रियों में जो वेग उत्पन्न होगा, उसे सम्हालने की शक्ति मन में नहीं है। इसलिए सभी इन्द्रियों का एक साथ नियंत्रण करना होगा, एक के बाद एक नहीं।

दूसरा सोपान कहता है कि मन को सदा सावधान रखो। मन हरदम जागता रहे। इन्द्रियों को उनके विषयों से लौटाकर तो ले आये हो, अब देखो कि मन युक्त हो जाय, समाहित हो जाय, एकाग्र हो जाय। विषयों में इन्द्रियों के रहते मन कभी भी युक्त या एकाग्र नहीं हो सकता। चंचल मन कभी सावधान नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति का मन चंचल होता है, वह अपना सांसारिक कर्म भी ठीक ढंग से नहीं कर सकता, कई गलतियाँ करता है। हिसाब करना हो, तो उसमें गलती करता हैं। कोई नकल उतारनी हो, तो उसमें भी कुछ छोड़ बैठता है, कुछ गलत लिख डालता है। उससे करने के लिए एक कहा जाय, तो वह दूसरा सुन बैठता है। यह असावधान मन की निशानी है। इसलिए दूसरा सोपान मन को स्थिरता पर जोर देता है।

तीसरा सोपान कहता है कि मन को ईश्वर में स्थापित करना होगा, तभी वह इन्द्रियों के फेर से बचने में समर्थ होगा। इन्द्रियों को विषयों से निकालकर तुम मन को भी विषयों से तो लौटा लाये, पर अब मन को रखोगे कहाँ, उसे कौनसा आश्रय दोगे ?

बिना आश्रय के मन नहीं रह सकता। यदि तुमने उसे कोई अन्य आश्रय नहीं दिया, तो वह फिर से विषयों में चला जायगा। इसलिए तीसरे सोपान में निर्देश दिया गया—'मत्पर:'। 'अहं वासुदेव: ईश्वर: पर: इष्ट: यस्य'—'मैं परमात्मा वासुदेव ही जिसका इष्ट हूँ'—यह 'मत्पर:' शब्द की व्याख्या है। भगवान् कृष्ण अर्जुन के माध्यम से साधकमात्र को उपदेश देते हुए कहते हैं कि मुझ वासुदेव भगवान् को अपना 'पर' यानी 'प्राप्तव्य स्थान' बना लो, मन को मुझमें टिका लो, जो कुछ घट रहा है, उसमें मुझ प्रभु की ही इच्छा को देखो। प्रभु तो रसस्वरूप हैं—'रसो वै स:'। प्रभु-रस एक बार लगा, तो बाकी सब रस फीके पड जाएँगे। इसलिए तीसरा सोपान कहता है कि विषय-रस को सुखाने के लिए मन को प्रभु-रस में लगा दो। इन्द्रियों को प्रभु-रस का स्वाद चखा दो—नेत्र प्रभु का रूप देखें, कान प्रभु सम्बन्धी शब्द सुनें,नाक प्रभु को अर्पित पुष्प-माल्य-चन्दनादि की सुवास मे अपने को तृप्त करे, रसना प्रभु को निवेदित नैवेद्यादि का प्रसाद ग्रहण करे, स्पर्शेन्द्रिय प्रभु को अर्पित की जाने-वाली वस्तुओं का स्पर्श कर तथा प्रभु के दिव्य भाव-मय अंगों का स्पर्श कर अपने को चरितार्थ करे। प्रभु-रस विषय-रस से सर्वथा भिन्न है। जहाँ विषय-रस मनुष्य को इन्द्रियों का दास बना देता है, वहाँ प्रभु-रस उसे उनका स्वामी। इन्द्रियों की उत्तेजना को

हम प्रभु की ओर मोड़ दें। श्रीमद्भागवत में हमें भगवान् कृष्ण का उपदेश प्राप्त होता है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।

—"जो मन-बुद्धि मुझमें लगी हुई है, उसमें उत्पन्न कामना को कामना नहीं समझना चाहिए, जिस प्रकार भुने हुए धान को धान का बीज नहीं समझा जाता।"

तात्पर्य यह कि जैसे भुने हुए धान के बीज से कोई पौधा नहीं फूटता, उसी प्रकार जिसने अपने चित्त को भगवत्परायण कर लिया है, उसमें उत्पन्न होनेवाली कामना वस्तुतः कामना नहीं है, क्योंकि वह नयी कामनाओं को उत्पन्न नहीं कर पाती और इस प्रकार मन को चंचल नहीं बना पाती। यहाँ पर 'मत्परः' शब्द से भक्तिमार्ग का भी उपन्यास कर दिया गया है। गीता के इस दूसरे अध्याय का नाम तो है 'सांख्ययोग', पर यह सूत्ररूप होने के कारण यहाँ पर प्रायः सभी विषयों की प्रस्तावना कर दी गयी है। ये तीनों सोपान जब सधते हैं—जब समस्त इन्द्रियों को विषयों से लौटा लिया जाता है और मन को सावधान रखते हुए उसे भगवत्परायण बना दिया जाता है, तब कहीं कहा जा सकता है कि इन्द्रियों को वश में कर लिया गया है। जिसने इस प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित कही जाती है।

*

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (१२)

एक भक्त

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के सन्यासी शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण-संघ के सन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है — स०)

१८ दिसम्बर। आश्रम के किसी ब्रह्मचारी ने कहा कि उस पर काम का बड़ा बोझ है, समय नहीं मिलता, इसलिए वह बाबा के पास नहीं बैठ पाता; पूजा-घर में उसका कोई सहायक नहीं है, इत्यादि। बाबा उससे कह रहे हैं, "काम करो, काम करो। काम के कारण यदि कोई मेरे पास न आ सके, या मेरे पास न बैठ सके, तो उससे मुझे खुशी ही होती है। जो खूब काम करता है या किसी काम के लिए कष्ट उठाकर दूर गया है, मेरा मन उसके निकट ही पड़ा रहता है! काम करो——यही तो तुम्हारी काम करने की उमर है। हमारी जब उमर थी, तब काम ही किया है। अब तो परवश हैं—— देख ही रहे हो।

"पूजा! सिर्फ पूजा भला कितना सा काम है! उसको और ज्यादा बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। निगम पूजा करता था——एक एक कृष्णकली (गुलअब्बास) फूल पाँच-पाँच मिनट में चढ़ाता। सिर्फ फूल चढ़ाने

में ही दो घण्टे लग जाते। इधर ठाकुरजी का नैवेद्य सजाया हुआ रखा है——ठाकुरजी का भोग ही नही हो रहा है। उधर ख्याल ही नहीं। पूजा का सब काम ही पूजा है——पूजा-घर में झाड़ू लगाना, गीले कपड़े से फर्श पोंछना, बर्तन माँजना, फूल तोड़ना, फूल सजाना, फल काटना, फल सजाना——सब काम करो पूजा के भाव से। साथ साथ सदैव इष्टमंत्र का जाप करना और इष्ट-चिन्तन करना।

"उसके बाद पूजा; अंजलि अंजलि फूल देना और कहना 'यह लो, प्रभु, फूल लो।' चन्दन लगा देना, माला होने पर माला पहिना देना, दो-चार फूल तसवीर के पास सजा देना और जितनी तसवीरें हैं, सब को एक-एक दो-दो फूल चढ़ाना। उसके बाद ठाकुरजी को नैवेद्य लगाना——निवेदन करके कहना, 'खाओ, प्रभु, यही तुम्हारा भोग है। आज जो मिला वही दिया है। खाओ, ठाकुर, खाओ।' ऐसा कहकर दरवाजा बन्द कर बाहर आ थोड़ा जप करना और सोचना——ठाकुरजी मानो खा रहे है। यही तो पूजा है। शरत् महाराज ने सिखला दिया था, बाणलिंग में सभी देवी-देवताओं की पूजा होती है, खूब सहज में हो जाती है।"

२९-१२-१९३६। सन्ध्यारती के बाद एक एक कर सब आने लगे। स्वामी अखण्डानन्दजी ने सूरदास के कुछ पद गाकर उनका अर्थ समझा दिया।

१) हाथ छुड़ाए जात हौ,
निबल जानि कै मोहि।
हिरदे तें जब जाइ हौ
मरद बदौंगो तोहि ॥

२) प्रभु मोरे अवगुन चित्त न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो।

३) गुरुध्यान गुरुज्ञान
गुरुबिनु नहिं बाट, कौड़ी बिनु नहिं हाट।

उसके बाद आज बाबा ने वेदान्त-विचार के सम्बन्ध में अनेक बातें बतलायीं--'हिन्दी में सुन्दरदास, निश्चलदास ने कैसे सुन्दर विचार किये हैं. 'वृत्ति-प्रभाकर', 'विचारसागर' आदि ग्रन्थों में वेदान्त की प्रतिष्ठा है। 'वृत्ति' में 'अहं ब्रह्मास्मि'---इसका विचार है, पछाँह में इसका खूब प्रचलन है। पंजाबी लड़कियाँ भी यह सब पढ़ती हैं-- सुन्दर विचार करती हैं। 'विवेकचूडामणि' में शंकर समझाते हैं; समझते समझते शिष्य को अनुभूति होती है। कहता है---क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ? यह जो विचित्र जगत् देखा था, वह कहाँ गया--कौन ले गया ? सबके भीतर वही सत् चित् आनन्द है--मुझमें, तुममें, कुर्सी में---सबके भीतर वही अस्ति, भाति, प्रिय है। Eternal Existence-common to all (अनन्त सत्ता, सबके भीतर समान रूप से है।)

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् ;

आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥
(दृग्दृश्यविवेक)

"ब्रह्मज्ञान क्या सहज में हो जाता है ? ब्रह्मविचार ऐसे नहीं होता, साधन-चतुष्टय चाहिए। क्या क्या ? विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व। विवेक--नित्यानित्य-वस्तुविचार, ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या। वैराग्य--इहामुत्रफलभोगविरागः, स्वर्ग और मर्त्य दोनों के ही भोगों की इच्छा का त्याग। ठाकुर के उपदेशों में है न--सोने की चेन और लोहे की साँकल दोनों ही बन्धन हैं। षट्सम्पत्ति--शम यानी मन का संयम, दम यानी शरीर-इन्द्रियों का संयम, तितिक्षा अर्थात् सहन करना--श ष स--शीत-उष्ण, सुख-दुःख, समस्त द्वन्द्वभाव, 'मात्रा स्पर्श'। उपरति--एक एक इन्द्रिय की रति एक एक दिशा में, एक एक विषय में होती है--नेत्रों की दृष्टि में, कर्णों की श्रवण में, जिह्वा की स्वाद में, नासिका की घ्राण में, त्वचा की स्पर्श में--इन सबसे उपरति। ठाकुरजी के उपदेशों में जैसा है--दिशा मोड़ देना। श्रद्धा--गुरु और वेदान्त के वचनों में विश्वास ही श्रद्धा है। उसके बाद समाधान--निष्पत्ति, शान्ति। मुमुक्षुत्व--मुक्ति की इच्छा, मुक्ति की तीव्र इच्छा होनी चाहिए, तभी निःश्रेयस् प्राप्त होगा। यह सब क्या सहज में हो जाता है ? तुम लोगों ने ठाकुर का आश्रय पाया है, तुम लोगों को यह सब

करना होगा, तभी तो होगा।

"मुझको (बोलने में) कष्ट हो रहा है फिर भी बोल रहा हूँ---यही सोचकर कि यदि किसी का कुछ बन जाय। नहीं तो किससे कहूँ और सुने ही कौन? पर शंकर ने यह भी कहा है कि साधनचतुष्टयहीन या गृहस्थ भी ब्रह्मविचार कर सकते हैं; उससे अच्छा ही होगा, एक अच्छा भाव मन में जागेगा। जैसे मान लो---साधु को भिक्षा देना, इसमें गृहस्थ का ही कल्याण है; साधु को देखने से वैराग्य-भाव जागता है, क्षणभर के लिए ही सही भगवान् की ओर मन जाता है। संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार द्वार भिक्षा करे, उसमें लज्जा का अनुभव न करे। शिव अन्नपूर्णा के पास भिक्षा करते हैं---लज्जा करते हैं क्या? शिव सन्यासी हैं, उनके फिर लज्जा क्या? साधु को देखने से अच्छे भाव का---त्याग, वैराग्य, ईश्वर पर निर्भरता का उद्दीपन होता है। बंगाल में क्या वह सब (वेदान्त और संन्यास-धर्म) था? वरन् एक घृणा का भाव ही था। हमीं लोग तो यह सब लाये हैं।"

कुछ क्षण चुप रहकर फिर अपने आप को सुनाते हुए गाने लगे---

(१) मैं हूँ ब्रह्ममयी का बेटा।

(२) मैं पुत्र उनका विश्वपति जो।

है पूर्ण अधिकार पितृधन में मेरा॥

इसके कुछ पश्चात् कह रहे हैं, "सन् १८९१ में

इटावा में जन्माष्टमी के दिन ठाकुर के दर्शन मिले थे। उपवास रहकर भागवत का पाठ कर रहा था, थोड़ा पढ़ने के बाद पुस्तक पर सिर रखकर ठाकुर की बातें सोचने लगा। ऐसे समय देखा ठीक सिर के ऊपर ठाकुर खड़े खड़े हँस रहे हैं और कह रहे हैं --'हाँ रे, मैं जो आया था, क्या लोग वह जान पा रहे हैं' ?"

*   *   *

"संन्यासी में क्रोध नहीं होना चाहिए। क्रोध रहने से फिर साधु कैसा? हम लोग ध्यान करते थे--'एक व्यक्ति इस हाथ में विष्ठा दे रहा है और दूसरा व्यक्ति उस हाथ में चन्दन मल रहा है। मैं न तो इस पर क्रोध कर रहा हूँ और न उसके प्रति आकृष्ट हो रहा हूँ --चुप बैठा हुआ हूं।'

"ठाकुर कहते थे,'काम-क्रोध-लोभ भला जायगा क्या रे? दिशा मोड़ दे; जो रोड़ा है, वही सहायक हो जायगा।' उनको पाने की कामना करो। उनके ऊपर क्रोध करो, कहो--क्यों दर्शन नहीं देते हो? क्रोध-प्यार सब उनके प्रति करो। उनके नाम-रूप-लीला के प्रति लोभ करो। उनके रूप के प्रति मोह करो--मुग्ध हो जाओ। मद--अहंकार, हमने उनका आश्रय पाया है, उनको खूब प्यार किया है--ऐसा अहंकार करो। मात्सर्य-- ईर्ष्या, डाह,-- देखो तो, वह कैसा जप-ध्यान कर रहा है, कैसा व्याकुल हो रहा है कैसे उसे अश्रुपात और रोमांच हो रहा है! मुझे क्यों नहीं होता? उसने भगवान् को पा लिया;

में क्यों नहीं पा सक रहा हूँ ?

"किसके भविष्य में क्या है यह यदि नहीं जान पाया, तो मैंने इतने दिन किया क्या ? ठाकुर का आश्रय मिला, आशीर्वाद मिला, कृपा मिली—जिसे जैसा दिखा देते हैं, वह सब देखकर जिससे जो कहना होता है कह देता हूँ।

" कोई दस-बारह साल पहले की बात है। इस छप्परवाले मकान में की घटना है। एक बार दिनरात अंधड़ चला-- रात में खूब तेज हो गया। ठाकुरजी की तसवीर के सामने प्रार्थना की, जिससे अंधड़ थम जाय। थोड़ा सोते ही अंधड़ फिर बढ़ जाता--इस प्रकार उन्नीस-बीस बार हुआ। छप्पर कहीं उड़ न जाय इसलिए उसे एक खूँटी से बाँध दिया गया। फिर सब लोग बाहर निकल आये। एक जन तब भी सो रहा था, उसे आवाज दे बाहर ले गया। इसके पश्चात् ठीक उसी स्थान पर जहाँ उसका सिर था एक ईंट गिरी, ठाकुर ने ही उसे बाहर बुलवा लिया था।"

* * *

"एक बार रसोइया चला गया था, मुझको ही दोनों बार रसोई बनानी पड़ती। बर्तन माँजना, खिलाना, सब समाप्त कर फिर सारी रात लिखता था, क्योंकि 'उद्बोधन' में मेरे लेख निकल रहे थे।

"लालटेन जलती -- रात ९ बजे से भोर तक। सुबह हो जाती; बत्ती जल रही है, मैं लिख रहा हूँ --तिब्बत के रास्ते हिमालय-भ्रमण । और

थोड़ा न लिखने पर यह भाव चला जायगा, फिर लौटकर नहीं आयगा——ठाकुर मानो ढेरी आगे ठेल देते थे।

"भोर बेला की ठण्ड —— शरीर सिहरने लगता —— लिखते लिखते जड़ हो जाता। भाव इतना प्रगाढ़ हो जाता कि लगता यही तो सामने हिमालय है, शुभ्र तुषारश्रृंग हैं, निर्जन और नीरव——मैं जैसे फिर से वहाँ पहुँच गया होऊँ। इतने में ध्यान टूटता —— देखता उजाला हो गया है, लालटेन की ज्योति धुँधली पड़ गयी है, कौए-कोयल पुकार रहे हैं। लिखना बन्द कर लड़कों को आवाज दे उठा देता। फिर रोजमर्रा का काम शुरू हो जाता।

"इसी प्रकार निद्राहीन नौ दिन नौ रात काटे थे। नौवें दिन की रात मैं लिखने बैठा —— अच्छे विचार उठ रहे थे, पर लेखनी जड़ हो गयी ——आड़ी तिरछी पड़ने लगी —— फिर और नहीं लिख सका। सो गया। अहा! उस दिन कैसी नींद सोया था—— जीवन में वैसा और कभी नहीं सोया!"

*　　*　　*

"मठ (बेलुड़ मठ) जाने पर महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) सहज में आने नहीं देते थे, बातें बनाकर अटका रखते, कहते, 'भाई, वहाँ क्यों अकेले अकेले रहोगे? यहाँ कितना आनन्द है!' मैं भी कलकत्ता जाने के नाम पर इस पार चला आता, उसके बाद खबर दे देता, 'महाराज, इस यात्रा की अनुमति दीजिए।' एक बार सिर पर पगड़ी बाँधे

और कमर पर हाथ रखे महाराज के पास विदाई लेने गया था। महाराज कहने लगे, 'वाह, कैसा योद्धा के समान वेश बनाया है! कहाँ जाने की तैयारी है? किस दिग्विजय में?'

"यहाँ से एक बार बिना किसी को सूचना दिये incognito (छद्मवेश में) बाहर निकल पड़ा था। मन बहुत खराब था, चला जा रहा था, यह सोच रखा था कि यदि कोई ठाकुर का भक्त न हो या ठाकुर के विरुद्ध कुछ भी बोले, तो वहाँ न खाऊँगा और न रुकूँगा।

"मुड़ागाछा में रास्ते के किनारे सुना—लड़के बातें कर रहे थे—ठाकुर आये थे, इसीलिए धर्म, देवी-देवता—इन सब में अविश्वास नहीं कर सकता। वृद्ध लोग कह रहे थे, 'हे ठाकुर, पतितपावन, जगत्पावन।' सोचने लगा—वाह ठाकुर, आगे ही यहाँ आकर बैठ गये हो! एक व्यक्ति श्री माँ के दीक्षित भक्त थे—उन्होंने खाने के लिए कहा, तब फिर बाहर निकल पड़ा, कह दिया — बाद में होगा, यदि उनकी इच्छा हुई तो। चलते समय बीच बीच में आश्रम के लिए चिन्ता होती। किन्तु पन्द्रह मिनट चुप बैठ ठाकुर का चिन्तन करता और सब ठीक हो जाता।"

* * *

" 'उद्बोधन' मे महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) का उपदेश छपा है—'योगी की नींद चार घण्टे और भोगी का छह घण्टे।' और रोगी की इससे भी अधिक। कैसे

सो सकेगा ? जिसके अन्दर वह आग धू-धू करके जल रही हो, वह क्या सो सकता है? वह तो जागता हुआ रो-रोकर कहता है-- दर्शन दो, दर्शन दो, आज भी तुमने दर्शन दिये नहीं।

"ठाकुर के पास जब हम लोग गाना गाते--
'बीत गयी रजनी, आय न सजना।
सेज बिछी है . . . पन्थ निहारूँ . . .
हाथों का दर्पण माथे का फूल।'

--राधा के विरह सम्बन्धी गान--मानो फूल की सेज बिछी हुई है--सब है, किन्तु 'वह' कहाँ ? तो ठाकुर बिछौने पर हाथ फिराते फिराते स्थिर हो जाते, फिर फूट-फूटकर रोने लगते। सारी रात नींद-वींद कहाँ चली जाती।

"प्रारम्भिक अवस्था में गंगा की रेती में मुख रगड़ते, वह लहूलुहान हो जाता। केवट लोग अवाक् हो देखते और 'आह आह' करते। सूरज डूब गया है, सन्ध्या-रती का घण्टा बज उठा है--ठाकुर पंचवटी के जंगल में जाकर पश्चिम की ओर ताकते हुए बिलख रहे हैं--'माँ, यह और एक दिन भी तो चला गया। कहाँ माँ, तूने दर्शन कहाँ दिये!'

'अहा, जो ठाकुर के पास एक दिन भी बैठा है, एक क्षण के लिए भी जिसने उनके दोनों चरण अपनी गोद में लिये हैं, वह धन्य है। ठाकुर के बिछौने पर बैठा था--नीचे जमीन पर पैर झुलाकर कि ठाकुर ने अपने दोनों चरण मेरी गोद में रख दिये और दूसरों

के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कहने लगे--देख रहे थे कि मेरे मन का क्या दशा है। महाराज से भी पहले एक दिन इस प्रकार कहा था।

"ठाकुर के दोनों चरणों के अँगूठों को लेकर अपने माथे से खूब घिसने लगा। ठाकुर कह उठे, 'यह क्या कर रहा है रे?' मैंने कहा, 'क्यों? तिलक दे रहा हूँ--सात्त्विक तिलक। आप ही ने तो कहा है--राजसिक तिलक--चन्दन के टीके की बहार, और सात्त्विक तिलक--आडम्बररहित गंगाजल का तिलक जो देखा न जा सके, तभी तो यह गंगाजल का तिलक दे रहा हूँ!' ठाकुर खूब हँसने लगे।

"ठाकुर ने कहा, 'देख देख'--और हम लोगों ने देखा है, सत्य कहता हूँ। ठाकुर का भाव इस देश में और क्या होगा! भाव धारण करने के लिए शक्ति चाहिए। समस्त स्वाधीन देशों में उनका भाव अधिक फैल रहा है और फैलेगा।"

३०।१२।१९३६। पूर्व रात्रि में स्वामी अखण्डानन्दजी ने कुछ खाया नहीं था, दूसरे दिन सबेरे कुछ कमजोरी अनुभव कर रहे हैं--कह रहे हैं, "देखो, खाकर दुर्बल होना बड़ी खराब बात है, और यह न खाये दुर्बल होना अच्छा है, इससे आत्मशक्ति बढ़ती है।" कुछ समय चुप रहने के बाद अपने आप से कह रहे हैं, "दिखाओ, प्रभु, दिखाओ--इन बूढ़ी हड्डियों में अपना खेल, दिखाओ तुममें कितनी शक्ति है!"

●